# चरित्र-निर्माण

की

# कहानियाँ

लेखक

श्री व्यथितहृदय



प्रकाशक

छात्रहितकारी पुस्तकमाला

दारागंज, प्रयाग

संस्करण }
१०० }

दिसम्बर १९४०

{ मू० ॥)

प्रकाशक
श्री केदारनाथ गुप्त, एम० ए०
प्रोप्राइटरः—छात्रहितकारी पुस्तकमाला,
दारागंज, प्रयाग।



मुद्रक
श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा
नागरी प्रेस, दारागंज
प्रयाग

# इन कहानियों के सम्बन्ध में

ये कहानियाँ दया, सहानुभूति, साहस, न्याय, देश-भक्ति, क्षमा, प्रेम और कष्ट सहन की एक तस्वीर हैं, जो मानव-चरित्र के उज्वल पृष्ठों से ली गई हैं। इसीलिये इस पुस्तक का नाम 'चरित्र-निर्माण की कहानियाँ' रक्खा गया है। आप कह सकते हैं कि इन कहानियों की आवश्यकता क्या थी ? मैं आपसे कहता हूँ कि आप मुझसे यह न पूछ कर अपने जीवन से पूछें। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि आप अपने जीवन से पूछेंगे, और पूछेंगे अपनी अन्तरात्मा से, तो आपको अपने आप इन कहानियों की आवश्यकता के सम्बन्ध में उत्तर मिल जायगा। यह इसलिये कि आपके जीवन का निर्माण जिस तत्व से होता है, वह प्रचुर परिमाण में इन कहानियों की पंक्ति-पंक्ति में समाया हुआ है, आप अपने हृदय को टटोल कर देखें, क्या इन कहानियों के लिये आपका मानव-हृदय निरन्तर प्यास का अनुभव नहीं करता ?

आप मनुष्य हैं। आपका काम है, निरन्तर चलना। संसार की परिस्थितियों से युद्ध करना। जीवन-युद्ध में विजयी होने के लिये आप दिन रात कितना प्रयत्न करते हैं, किन्तु कदाचित् आप यह नहीं जानते कि मनुष्य अपने जीवन-युद्ध में विजय कैसे प्राप्त कर सकता है ? सुनिये, महात्मा बुद्ध क्या कह रहे हैं, 'यदि जीवन-युद्ध में विजय प्राप्त करना चाहते हो तो अपनी जीवन-वाटिका को चरित्र के सुंदर पुष्पों से सजाओ।' महात्मा बुद्ध ही ने नहीं, संसार के अन्यान्य साधकों और कल्याण-चेता मनुष्यों ने भी जीवन की सफलता के लिये चरित्र की महत्ता उद्घोषित की है। आधुनिक युग के

अमर तपस्वी महात्मा गांधी के जीवन की ओर झाँक लीजिये और सुन लीजिये ध्यान से उनकी बातों को। वे क्या कहते हैं? यही तो अपने चरित्र का निर्माण कीजिये, मनुष्य हैं, इसलिये मनुष्य बनिये! ये कहानियाँ इस दिशा में आपकी साथिनी सी हैं। ये इसलिये नहीं लिखी गई हैं, कि इनसे साहित्य का गौरव बढ़े, ये तो इसलिये लिखी गई हैं कि इनसे आपको अपने जीवन-निर्माण में सहायता प्राप्त हो। यदि इन कहानियों का आपके हृदय पर कुछ भी प्रभाव पड़ सका तो इसके पश्चात् मैं अपने हृदय में कुछ कुछ यह सोचूंगा कि क्या मैं साहित्यकार हूँ, क्या मैं कलाकार हूँ!

हाँ, एक बात और कह दूं, यदि न कहूँगा, तो हो सकता है, कि चरित्र की ओर से मुझ पर लांछन लगें। आप इन कहानियों को पढ़कर स्वयं ही देख लेंगे कि उनमें विभिन्न मानव-चरित्र हैं, विभिन्न मानव घटनाएँ हैं। मैं अपने को कहानियों का लेखक अवश्य कह सकता हूँ किन्तु घटनाये मैने कई बङ्गाली गुजराती और हिन्दी के मासिक पत्रों से उधार ली है। अतः मैं उनका चिरऋणी हूँ और उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रगट कर रहा हूँ।

श्रमिक निवास, कटरा प्रयाग
१-१२-४०

आपका विनीत भाई
'व्यथित हृदय'

# विषय-सूची

# चरित्र-निर्माण

की

# कहानियां

# मित्र का ऋण

वे दोनों मित्र थे। बड़े ही अभिन्न, बड़े सच्चे। एक दूसरे पर प्राणों को उत्सर्ग करने के लिये सदैव तैयार रहते थे। प्रकृति ने दोनों को भिन्न भिन्न सांचे में ढाला था। एक कायर था, दूसरा निर्भीक। एक निरुद्यमी था, दूसरा उद्यमशील। इसी प्रकार सत्य और कर्त्तव्य में भी दोनों की भिन्न भिन्न रुचि थी। किन्तु फिर भी दोनों मित्र थे। मित्र भी साधारण नहीं, अभिन्न, एक दूसरे पर प्राणों से मरने वाले।

कई सौ वर्ष पूर्व की बात है। दोनों इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध वेस्ट मिनिस्टर स्कूल में पढ़ते थे। एक का नाम निकोलस और दूसरे का नाम बेक था। बेक को सत्य से प्रेम था और निकोलस को असत्य से। दोनों मित्रता के सूत्र मे बंधे हुये अपनी भिन्न प्रकृति के साथ जीवन के मार्ग पर आगे बढ़े जा रहे थे।

एक दिन की बात है। दोनों स्कूल में अपने अपने स्थान पर बैठ कर पाठ पढ़ रहे थे। शिक्षक महोदय कुछ देर के लिये कहीं बाहर चले गये। दोनों ने पढ़ना बन्द कर दिया। सभी लड़कों ने भी वैसा ही किया। सब के सब पढ़ना बन्द करके

ऊधम मचाने लगे। निकोलस ने कहा, कोई ऐसा काम करना चाहिये, जिससे सब को आनन्द प्राप्त हो!

निकोलस स्कूल के कमरे में इधर-उधर अपनी दृष्टि दौड़ाने लगा। उसकी दृष्टि एक स्थान पर जाकर रुक गई। वह भी थोड़ी ही देर मे वहीं जा पहुँचा। वहाँ दीवाल मे एक साफ सुथरा और लम्बा-चौड़ा शीशा टँगा हुआ था। निकोलस मन ही मन सोचने लगा, 'यदि इसको फोड़ दूँ तो! निस्सन्देह सब को आनन्द प्राप्त होगा। किन्तु नहीं, यह बहुत बड़ा उत्पात है। मैं ऐसा न करूंगा।

निकोलस अभी सोच ही रहा था कि उसके हाथ आगे बढ़ गये। एक साधारण सा झोंका और बस। शीशा गिर कर टूट गया। निकोलस का हृदय काँप उठा, बिलकुल पत्ते की भाँति! आकृति पीली पड़ गई। आंखों के सामने एक चित्र दौड़ उठा, शिक्षक सजा देंगे। आश्चय नहीं स्कूल से भी निकाल दें। फिर उसका जीवन!

निकोलस सिर झुका कर अपने स्थान पर जाकर बैठ गया। उसकी आँखों के सम्मुख अन्धकार था। वह मन ही मन न जाने क्या क्या सोच रहा था। साथियो ने किसी प्रकार शीशे को जोड़ कर उसे फिर दीवाल पर टाँग दिया। शिक्षक आये। कमरे में सन्नाटा, निस्तब्धता। कोई सिर भी न हिला रहा था। मानों मौन रूप मे सब के सब निकोलस के अपराध की घोषणा कर रहे हो। शिक्षक को आश्चर्य हुआ, महान् आश्चर्य। वे

इस रहस्य को जानने के लिये कमरे मे चारों ओर दृष्टि दौड़ाने लगे।

टूटा हुआ शीशा दीवाल पर रो रहा था। शिक्षक को सन्देह हुआ। वह उठ कर शीशे के समीप गये। सचमुच शीशा टूटा हुआ। शिक्षक क्रोध से गरज पड़े। उन्होंने आंखों मे क्रोध भर कर कहा, जिसने यह शरारत की है, वह खड़ा हो जाये।'

किन्तु कोई खड़ा न हुआ। खड़ा होने को कौन कहे, किसी ने उत्तर तक न दिया। शिक्षक का क्रोध उबल पड़ा। वह लगे प्रत्येक लड़के से पूछने। उन्होने निकोलस से भी पूछा। निकोलस मन में सोचने लगा 'क्या कह दूं, मैने ही शीशा फोड़ा है। न, न, मै न कहूँगा। किन्तु लड़को ने जो देखा है! मगर लड़कों के देखने से क्या होता है, मै तो निर्दोष हूँ और फिर जगत में दोष किस में नहीं है? समुद्र, पहाड़, चन्द्रमा, सूर्य और प्रकृति सभी में तो कुछ न कुछ दोष हैं।" उसने साफ़ अस्वीकार कर दिया।

अब वेक की बारी आई। वह निकोलस के समीप ही बैठा हुआ था। उसने सोचा, निकोलस मेरा मित्र है। उसने अपराध किया है। किन्तु वह उसे अस्वीकार कर रहा है। फिर उसका अपराध मै क्यो न अपने सिर पर ले लूं! एक मित्र को ऐसा ही तो करना चाहिये!

वेक बोल उठा, शीशे को मैने तोड़ा है। लड़के आश्चर्य-चकित होकर वेक की ओर निहार उठे। निकोलस लज्जा से

पानी पानी हो गया। बेक पर मार पड़ने लगी। चमड़िया
छिल गईं। शरीर पर नीले नीले दाग पड़ गये। देखने वाले
सिहर उठे, पत्ते की भाँति कम्पित हो गये। किन्तु बेक की
आकृति पर दृढ़ता, स्वाभिमान और विजय की भावना थी।

छुट्टी हुई! साथियों ने बेक को घेर लिया। कोई कह रहा
था, बेक वीर है, निर्भय है, स्वाभिमानी है, और कोई कह रहा
था, मित्र हो तो ऐसा। निकोलस चुपचाप खड़ा था। उसकी
आंखों मे आंसू थे। वह मन ही मन अपने को धिक्कार रहा
था, अपनी भर्त्सना कर रहा था। अन्त में वह भी आँसुओं से
लदी हुई आँखों को लेकर बेक के सामने गया। उसका गला
रुंधा हुआ था। उसने बड़ी ही कठिनाई से रुंधे हुये स्वर मे
कहा, 'बेक तुमने अपने इस त्याग से मेरे अंधे प्राणों मे एक
नई ज्योति पैदा की है। मुझ पर तुम्हारा यह बहुत बड़ा ऋण
है। मै तुम्हारे इस ऋण को कभी न भूलूंगा।

चालीस वर्ष के पश्चात। दोनों मित्र दो दिशा में थे।
निकोलस न्यायाधीश था और बेक सेना नायक। उन दिनों
इंग्लैण्ड में क्रामवेल का शासन था। राजतन्त्र और प्रजातंत्र
वादियों से मुठभेड़ें हो रही थीं राजतन्त्र वादियों के पैर
उखड़ चुके थे। वे स्थान-स्थान पर पराजित हो रहे थे। बेक भी
राजतन्त्रवादियों की ओर से युद्ध कर रहा था। किन्तु वह भी
पराजित हो गया और अपने साथियों के साथ बन्दी करके
एकजिस्टर भेज दिया गया।

एकजिस्टर में निकोलस न्याधीश था। वही निकोलस, बेक का मित्र। निकोलस न्याय-मंच पर था। बन्दी न्यायालय मे उपस्थित किये गये। प्रजातन्त के शासक क्रामवेल का आदेश था, राजतन्त्रवादी बन्दियो के लिये मृत्यु। निकोलस बारी-बारी से सब को मृत्यु का दण्ड देने लगा। जब कर्नेल बेक का नाम लिया गया, तब वह आश्चर्य चकित होकर उसकी ओर देखने लगा। उसने उसे देखा, पहचाना किन्तु कर्त्तव्य ने उसे विवश कर दिया। उसने निर्णय करते हुये कहा, चार दिन के पश्चात् सबको फाँसी दे दी जाय!

किन्तु निकोलस की आत्मा अधिक व्याकुल हो उठी। वह उन्मत्त की भाँति, न्याय-मंच से उठ कर अपने कमरे के भीतर भाग गया। नौकर, चाकर, सिपाही, सैनिक सभी अवाक! किसी की समझ ही में कुछ न आया। सब आपस में तरह-तरह की कल्पनाये करने लगे। उधर निकोलस ने कमरे के भीतर नौकर को बुला कर उसके सामने चाँदी के कुछ सिक्के फेक दिये। उसने कहा, जाओ मेरे लिये शराब, गोस्त और एक घोड़ा लाओ। घोड़ा ऐसा लाओ, जो एकजिस्टर में सबसे तेज़ हो।

लोग तरह-तरह की कल्पनायें कर रहे थे। कुछ देर के पश्चात् लोगों ने देखा कि निकोलस हवा से बातें करने वाले घोड़े पर चढ़ कर लन्दन की ओर भागा जा रहा है। उन दिनों रेलों का प्रचार नहीं हुआ था। निकोलस को इस रूप में जाते

हुये देखकर लोग और भी अधिक आश्चर्य-चकित हो उठे। सभी आकुल थे, परीशान थे। पर निकोलस को किसी की चिन्ता न थी। उसे स्वयं अपनी भी चिन्ता न थी। वह अपने मित्र बेक को बचाना चाहता था और इसीलिये लन्दन में क्रामवेल के पास जा रहा था। दो रात और एक दिन वह घोड़े की पीठ ही पर रहा। इतनी लम्बी यात्रा में वह तीन वार रुका था और वह भी केवल घोड़ा बदलने के लिये।

सवेरा हो रहा था। सूरज की किरणें निकल आई थीं लन्दन में क्रामवेल के कमरे में कीचड़ से सना हुआ निकोलस खड़ा था। उसके सारे कपड़े लथ-पथ थे। क्रामवेल ने मिलने वाले कमरे में पहुँच कर आश्चर्य से उसकी ओर देखा और आश्चर्य ही से उसके मुख से निकल पड़ा, 'कौन, न्यायाधीश निकोलस! यहाँ, इस समय! ऐसी दशा में !!

निकोलस ने कहा, हाँ, मै हूँ, न्यायाधीश निकोलस! मुझ पर अपने मित्र का बहुत बड़ा ऋण है। समय आ गया है कि मैं उस ऋण को चुका दूं। किन्तु आपकी सहायता के बिना यह असम्भव है, असम्भव!

क्रामवेल आश्चर्य-चकित होकर निकोलस की ओर देखने लगा। उसने कहा, मित्र, मित्र का ऋण चुकाने में मेरी सहायता!

निकोलस ने उत्तर दिया, 'हाँ, आप की सहायता, प्रजातन्त्र राज्य के शासक क्रामवेल की सहायता!'

निकोलस ने अपनी और वेक की मित्रता की कहानी क्रामवेल को सुना दी। उसने कहा, आज मै जो कुछ वन सका हूँ, वह केवल वेक ही के कारण। वेक ही ने मुझे इस स्थान पर पहुँचाया है। वेक ने यदि शीशा फोड़ने के मेरे अपराध को अपने ऊपर न ले लिया होता तो मेरे प्राणों में सत्य की ज्योति न जलती। मैं कायर का कायर वना रहता और आज न जाने किस घाट पर होता। अपने उसी प्राण-प्यारे मित्र के लिये मै आप से क्षमा का दान चाहता हूँ। यदि आप मुझे दान न देंगे तो वह दो दिन के वाद ही इस संसार से मिट जायगा। फिर उसके साथ ही साथ निकोलस भी जायगा।

क्रामवेल वड़ा ही कठोर था, वड़ा ही उग्र। अपने विरोधियों के प्रति उसके हृदय मे रंचमात्र भी दया मया न थी। किन्तु निकोलस और वेक की मित्रता की कहानी ने उसकी भी आंखों में आंसू छलका दिये। उसने क्षमा-दान का पत्र लिखकर निकोलस को देते हुये कहा, 'आखिर मैं भी तो मनुष्य हूँ निकोलस !'

निकोलस पुन तत्क्षण वहाँ से चल पड़ा और एकजिस्टर में पहुँच कर शीघ्र ही जेलखाने में जा पहुँचा। वह लगा कोठरी कोठरी मे वेक को खोजने। आखिर एक कोठरी मे वेक वन्दी रूप में मिला। उसने क्षमा दान का पत्र वेक की ओर वढ़ाकर उसे अपनी भुजाओ मे कस लिया और रुंधे हुये गले से कहा—क्या तुम मुझे भूल गये वेक ?

बेक ने भी उसी स्वर में उत्तर दिया, 'तुम भी कभी भुलाये जा सकते हो निकोलस !'

दोनों मित्रों की आँखों के वे आँसू ! क्या कोई कह सकता है कि उन पर स्वर्ग की निधियां नहीं निछावर की जा सकतीं !



# आत्म-विश्वास के लिए

वह एक युवक था। नाम था, एन्टन। सीधा, सादा, स्वस्थ और सुन्दर। बोलता तो बातों मे नम्रता होती, मिठास होती। न कभी किसी से लड़ता था और न कभी किसी से झगड़ता था। उसकी आत्मा निर्मल थी, पवित्र थी। वह शुद्धता और शान्ति की मूर्ति बना हुआ हर एक के हृदय को प्रसन्नता का सागर बना रहा था।

उसकी माँ भी ऐसी ही थी। दयालु, सरल और स्नेह वाली। एन्टन पर तो अपने प्राण लुटाया करती थी। उसे कभी डाँटती और फटकारती तक न थी। वह प्रतिदिन एन्टन को अपने समीप बैठाल लेती और उसे बाइबिल की उपदेश-पूर्ण कहानियां सुनाया करती। एन्टन उन कहानियों को बड़े प्रेम से सुनता। सुनता ही नही, हृदयंगम भी करता और हृदयंगम करके उन्हीं के सांचे मे अपने चरित्र को भी ढालता। उन्हीं कहानियों ने तो उसके चरित्र को अधिक निर्मल बना दिया था और अधिक पवित्र !!

केवल कुछ ही वर्ष पूर्व की बात है। आस्ट्रिया पर जर्मनी का अधिकार था। लड़ाई में जब जर्मनी फँसा, तब उसे सिपाहियों की आवश्यकता हुई। आस्ट्रिया में भी जर्मनी की ओर से

आदेश निकाला गया—प्रत्येक नवयुवक सेना मे भरती हो। जो न होगा, उसे दण्ड दिया जायगा।'

किसमें शक्ति थी जो अधिकारियों की बात न मानता। हजारों, लाखों की संख्या मे नवयुवक सेना में नाम लिखाने लगे। किन्तु एन्टन के कानों पर जूँ तक न रेंगी। उसके लिये मानों जैसे कुछ हुआ ही न हो। वह पहले ही की भाँति बाइबिल की कहानियाँ सुनता रहा और करता रहा दुखी मनुष्यो की सेवा।

पर अधिकारी इसे कब बर्दाश्त कर सकते थे। एक दिन सिपाही एन्टन के पास जा पहुँचा। उसने कहा, 'एन्टन तुमने अब तक सेना मे नाम क्यों नहीं लिखवाया ? तुम्हें कल अदालत में हाकिम के सामने हाजिर होना पड़ेगा।'

एन्टन चुप रहा। वह अपनी माँ के पास गया। उसने अपनी माँ को सिपाही की बात सुना दी। माँ ने कहा, 'फिर तुम्हारा क्या विचार है ?'

एन्टन ने उत्तर दिया, 'मैं तो सेना में नाम न लिखाऊँगा मां! मेरी आत्मा कहती है कि सेना में नाम लिखाना पाप है।'

मां ने कहा, 'यदि तुम्हारी आत्मा ऐसा कहती है, तो तुम ऐसा ही करो बेटा! आत्मा की आवाज़ ईश्वर की आवाज़ होती है। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करेगा!'

एन्टन ने आंखे बन्द करके मस्तक झुका लिया।

दूसरे दिन एन्टन कचहरी में जाकर हाज़िर हो गया। हाकिम की आंखें क्रोध से चढ़ी हुई थीं। उसने आंखों को नचा कर रोब से पूछा, 'क्यों? तुमने सेना में अब तक नाम क्यों नहीं लिखाया?

एन्टन ने उत्तर दिया, मैं सेना में नाम नहीं लिखा सकता। सेना में नाम लिखाने से युद्ध में दूसरों का रक्त बहाना पड़ता है। मेरी दृष्टि में यह पाप है; महा पाप!'

हाकिम ने कहा, 'किन्तु यह युद्ध तो देश के लिये है। क्या तुम देश की लाज न रक्खोगे?

एन्टन ने उत्तर दिया, 'तब तो यह युद्ध और भी अधिक स्वार्थ पूर्ण है। देश की लाज नहीं, मैं तो मानव जगत की लाज रखना चाहता हूं।'

हाकिम ने अनेक प्रकार की बातें की। युक्तियों से काम लिया, डराया, धमकाया; किन्तु एन्टन न विचलित हुआ। वह बराबर यही कहता गया, मै सेना मे नाम न लिखाऊँगा। सेना में नाम लिखाना पाप है, महा पाप!!

हाकिम क्रोध से कांप उठा। उसने एन्टन को तीन महीने का कठोर कारावास दे दिया। एन्टन जेल चला गया। जेल जाते समय वह हँस रहा था, मुसुकरा रहा था। एन्टन की मां भी इस समाचार से बड़ी प्रसन्न हुई, बड़ी आह्लादित। क्यों न हो? उसका बेटा सत्य के लिये जेल गया था न!

तीन महीने के पश्चात् एन्टन जेल से निकला। फिर वही आदेश, फिर वही फरमान। सिपाही आज्ञा-पत्र दे गया, 'शीघ्र सेना में भरती हो जाओ, नहीं तो दण्डित किये जावोगे !'

पर एन्टन विचलित न हुआ। उसकी आत्मा मे विश्वास की जो ज्योति जली थी, वह बराबर जलती ही रही। उसने सेना मे नाम न लिखाया, न लिखाया। वह पुनः अदालत में जाकर हाकिम के सामने हाज़िर हो गया।

हाकिम ने कहा, 'सेना में भरती हो जाओ !' एन्टन ने फिर वही उत्तर दिया। पाप और महा पाप वाला। हाकिम ने अब दूसरी चाल चली। उसने अपना स्वर अधिक कर्कश करके कहा, 'सेना में नाम न लिखावोगे, तो जानते हो क्या होगा ?

'क्या होगा ? आप ही बतला दीजिये—एन्टन ने पूछा।

हाकिम ने कहा, 'गोली से उड़ा दिये जावोगे।'

एन्टन ने उत्तर दिया, बस। मैं प्रसन्नता-पूर्वक तैयार हूँ। अभी उड़ा दीजिये गोली से। पर मै सेना मे नाम न लिखाऊँगा, न लिखाऊँगा !

हाकिम को आश्चर्य हुआ। यह युवक प्राणों की ओर से इतना निर्भय ! अवश्य इसकी चेतना बिगड़ गई है, यह पागल हो गया है। हाकिम ने एन्टन को डाक्टरी जाँच के लिये भेज दिया।

डाक्टरों ने रिपोर्ट दी, एन्टन स्वस्थ है, तन्दुरुस्त है। उसमें कोई किसी प्रकार का रोग नहीं।' हाकिम अब क्या करे? उसने एन्टन को पुनः पन्द्रह महीने के लिये कारागार मे भेज दिया।

उसे सिपाही जब जेल ले जा रहे थे, तब फिर वह हँस रहा था, मुसकुरा रहा था। वह बार बार जेल गया, किन्तु अपने विचारो से न बदला। क्यो न हो? उसने आत्मिक चरित्र का निर्माण किया था न!



# हीरा चित्रकार

वह चित्रकार था, महान्। नाम था, हीरा, काम भी ही
ही के सदृश था। हीरा ही के सदृश चित्रकारों में अमूल्य थ
ज्योति था। लोग उसको कला की प्रतिमा कहते, विश्वक
का साक्षात् अवतार। किन्तु वह विनयी था, नम्र था और
सरल। विनय, नम्रता, और सरलता ने उसकी कला
और भी अधिक सजीव बना दिया था। उसकी ख्याति दे
के कोने कोने में फैल चुकी थी, वह देश के हृदय में स्थान
चुका था।

दर्भावती दुर्ग के प्रधान फाटक की वह नक्काशी! सब
चित्रकार मुक्तकंठ से उसकी प्रशंसा कर रहे थे। वह विश्व-कम
की कृति है, साक्षात कला की रचना है। हीरा अपनी उस
नक्काशी से विश्व-कर्मा और साक्षात् कला के रूप में सारे दे
में फैल गया। कोने कोने में उसकी ख्याति गूँज उठी और लो
उसे कहने लगे, अमर कलाकार।

महाराज सिद्धराज के कानों में यह भी समाचार पड़ा। 'गुज
रात का चित्रकार हीरा अमर कलाकार, विश्व-कर्मा, कला की
साक्षात मूर्ति। उन्हें कौतूहल हुआ, आश्चर्य हुआ। वे स्व
दल-बल उसकी कला-चातुरी देखने के लिये दर्भावती जा पहुँचे

उन्होंने दर्भावती जाकर देखी—हीरा की कला-चातुरी। उनके मुख से वरवस निकल पड़ा, 'यह मनुष्य की कृति नहीं, इसे किसी देवता ने वनाया है।' किन्तु वह तो हीरा की कृति थी। हीरा सचमुच मनुष्य रूप मे देवता था, विश्वकर्मा था। इसीलिये तो महाराज सिद्धराज का मस्तक भी उसकी कृति के सामने नत हो गया।

किन्तु साथ ही महाराज के मन मे सन्देह और भय भी जागृत हो उठे। वे सोचने लगे, यदि कहीं इस चित्रकार ने इससे भी अच्छी नक्काशी की तो मेरी ख्याति धूमिल पड़ जायगी। उसका नाम देश-विदेश के कोने मे व्याप्त हो उठेगा, और मै उससे पीछे हो जाऊँगा, वहुत पीछे!

महाराज का हृदय सदैव इसी भय से पत्ते की भाँति काँपा करता था। ये रात में स्वप्न में भी यह देखते थे कि हीरा उनकी ख्याति को धूमिल करता हुआ उनसे आगे वढ़ा जा रहा है, वहुत आगे। आखिर महाराज से न रह गया। उन्होंने एक दिन सिपाही भेज कर हीरा को अपने दरवार मे वुलाया।

महाराज ने पूछा, 'हीरा क्या तुम्हारी कला का यही सवसे श्रेष्ठ आदर्श है?

हीरा ने सिर ऊपर उठा कर कहा, 'हाँ महाराज।'

महाराज ने फिर पूछा, 'क्या तुम इससे भी अधिक सुन्दर रचना कर सकते हो?"

हीरा हँसा। उसने हँसकर उत्तर दिया, 'यह मैं कैसे
सकता हूँ महाराज! कलाध्या शक्ति की कृपा पर अ
पंख फैलाती है। उन्हीं की कृपा से मैंने यह रचना की है।
जाने, उनकी कृपा से मैं इससे भी अधिक सुन्दर कोई र
कर सकूं।

महाराज की आकृति पर उदासी नाच गई। उन्होंने
स्वर में कहा— इससे तो यही ज्ञात होता है कि तुम्हारी
भी अधिक सुन्दर ढङ्ग से अपना चमत्कार दिखा सकती है!

हीरा ने उत्तर दिया, 'बहुत सम्भव है महाराज!'

हीरा का उत्तर बहुत ही साधारण था, बहुत ही स्वाभावि
किन्तु सिद्धराज को उसमें अहङ्कार की गन्ध मिली। वे
से दांतों को पीसने लगे। किन्तु चुप रहे। उन्होंने चित्रकार
विदा कर दिया और कहा, सन्ध्या समय फिर आना!'

सन्ध्या समय हीरा पुनः महाराज के सामने उपस्
हुआ। महाराज ने कहा, 'हीरा तुम्हारे लिये मेरा एक आदेश

हीरा ने महाराज की ओर देखा और पूछा, 'कौन
महाराज!'

महाराज ने कहा, 'तुम्हें शपथ पूर्वक यह प्रतिज्ञा करनी होग
कि तुम आजीवन सिद्धराज के अतिरिक्त और किसी का का
न करोगे।'

हीरा आश्चर्य चकित हो उठा। उसके मन में अनेक विचा
की लहरियां एक साथ ही दौड़ पड़ीं। महाराज ऐसी बात क्य

कह रहे है ? उसके मन मे क्रोध की कुछ भावना भड़की। किन्तु उसने सव को दवाकर उत्तर दिया, 'यह तो नही हो सकता महाराज ! कला वाँध कर कदापि नही रक्खी जा सकती और फिर मैं श्रमजीवी हूँ, मुझे जहाँ काम मिलेगा, मैं करूंगा। चाहे वह कोई भी हो !'

महाराज ने अपनी वातो को दूर तक फेकते हुये कहा, किंतु मै तुम्हे इस चिन्ता से मुक्त कर दूंगा हीरा ! मै तुम्हे तुम्हारे जीवन तक काम दूंगा !'

चित्रकार ने महाराज की वात मान ली। महाराज ने फिर पूछा, 'तो प्रतिज्ञा करते हो न, कि आजीवन किसी का काम न करूंगा।

चित्रकार के हृदय को एक ठेस सी लगी। उसका हृदय पीड़ा से मथ उठा। उसने उत्तर दिया, 'ऐसी प्रतिज्ञा मै कैसे कर सकता हूँ महाराज ! मन तो मेरे वश मे नहीं। जव तक मेरा मन चाहेगा, आपका काम करूंगा, और जव न चाहेगा, अलग हो जाऊँगा।'

महाराज ने फिर कहा, 'नही हीरा, तुम्हे यह प्रतिज्ञा करनी ही होगी। तुम्हे यह कहना ही होगा कि तुम्हारे हाथ पाटन के स्वामी के अतिरिक्त और किसी का काम न करेंगे।

हीरा ने दर्प और गौरव से उत्तर दिया, 'ऐसी प्रतिज्ञा तो मुझ से न की जायगी महाराज! मै विवश हूं, वहुत विवश !'

महाराज के क्रोध की सीमा न रही। आँखों से चिनगारियाँ फूटने लगीं। उन्होने उसी आवेग में गरज कर कहा, 'यदि तुम प्रतिज्ञा न करोगे हीरा तो मै तुम्हारे दोनों हाथ कटवा लूंगा!'

हीरा ने उत्तर दिया, 'चिन्ता नहीं महाराज! 'मैं हाथों से विहीन होकर जगत मे घूमूंगा और घर घर आपकी क्रूरता और अन्याय का संदेश पहुँचाऊँगा!'

महाराज के हृदय की क्रोधाग्नि और भी अधिक जोरों से भड़क उठी। उन्होने मुख से आग उगलते हुये कहा, 'दुष्ट चित्रकार, तुझे अपनी रचना-चातुरी का इतना दर्प; मै उसे धूलि मे मिलाकर छोड़ूंगा, तुझे जीता ही भूमि में गड़वा कर सदा के लिये उसका अन्त करवा दूंगा।'

हीरा ने उत्तर दिया, 'आप ऐसा :कर सकते हैं महाराज! राज-सत्ता आपके हाथ में है न! आपकी ख्याति भी इससे जगत में अधिक फैलेगी। किन्तु मै दासता की वेदी पर अपनी आत्मा की वलि नहीं चढ़ा सकता महाराज! में चित्रकार हूँ। जगत की सेवा करना मेरा कर्त्तव्य है। मैं उस कर्त्तव्य को आपके हाथ चाँदी के टुकड़ों पर नही वेच सकता, नही वेंच सकता!!

हीरा वन्दी हो गया। उन्हीं महाराज सिद्धराज के आदेश पर उसके हाथों में हथकड़ियाँ डाल दी गईं। वह सत्य के लिये हथकड़ियों को खनखनाता हुआ जेल चला गया। जेल जाते समय उसकी आकृति पर ज्योति थी, स्वाभिमान था।

सन्ध्या बीत चुकी थी। पक्षी अपने-अपने घोंसले में सोने के पहले चहचहा रहे थे। उसी समय लोगों ने सुना, कि 'हीरा दुर्ग की दीवाल मे चुन दिया गया!" लोगो के हृदय से एक चीख सी निकल पड़ी। लोगो ने कहा, 'सचमुच गुजरात का हीरा दीवाल मे चुन दिया गया, सदा के लिये मिट्टी के ढेर के नीचे छिपा दिया गया।

सुनते हैं महाराज सिद्धराज ने अपनी इस क्रूरता पर अधिक पश्चात्ताप प्रगट किया था। यह भी सुनते हैं, कि हीरा की स्त्री ने, जीवित अवस्था ही मे हीरा को भूमि के अन्दर से निकाल लिया था, और महाराज ने उसका अधिक सम्मान किया था। किन्तु उसकी उँगुलियां कुचली हुई थीं। सचमुच उसकी कला का अन्त कर दिया गया था। जो हो, दमोय में 'हीरा भगोल' नाम का दुर्ग आज भी उसकी स्मृति मे खड़ा है, और आज भी लोगो को उसकी अमरता का सन्देश सुना रहा है।

# आत्म-समर्पण

वह एक युवक था। सुन्दर और स्वस्थ। संगीत में पटु था। नगर में उसकी दो साधारण दूकानें थीं। उन्हीं से अपने जीवन के काम चलाता था। सभी उसे अच्छा कहते, बहुत अच्छा। सब के साथ उसका व्यवहार भी बहुत अच्छा होता था। अपना हो या पराया, वह सब को एक ही दृष्टि से देखता था।

उसका नाम था किशोर। एक बार किशोर सुदूर देश में व्यापार के लिये निकला। गर्मी के दिन थे। सूर्य तप रहा था। मार्ग में किशोर को एक परिचित व्यापारी मिल गया। उसने कहा, मैं भी उसी दिशा में चल रहा हूँ, जहाँ तुम चल रहे हो। किशोर ने उत्तर दिया, 'बहुत अच्छा ! चलो, हम दोनों का मार्ग बड़ी सरलता से कट जायगा।

सन्ध्या हुई। दोनों ने एक होटल में डेरा डाला। किन्तु किशोर सबेरा होने के कुछ पूर्व ही होटलवाले का हिसाब चुका वहाँ से चल पड़ा। उसने सोचा, सूर्य के तपने के पूर्व ही कुछ दूर निकल जाऊँ। वह बीस मील जा चुका था। एक स्थान पर उसने देखा, कि कुछ पुलिस के सिपाही पीछे द्रुतगति से दौड़े आ रहे हैं। वह अपना घोड़ा रोक कर खड़ा हो गया।

पुलिस अफसर ने उसके समीप पहुंच कर कहा, 'मैं इस इलाके का पुलिस अफसर हूँ। जिस व्यापारी के साथ आप

होटल में ठहरे थे, उसकी किसी ने हत्या कर दी। मैं आपकी तलाशी लूँगा!'

किशोर को आश्चर्य हुआ और दुःख। उसने पुलिस को अपनी तलाशी दे दी। किन्तु यह क्या? यह तो उसके पास से रक्त में रंगी हुई कटार निकली। पुलिस अफ़सर की त्योरियाँ चढ़ गई। उसने आंखों में क्रोध भर कर कहा, 'तुम खूनी हो! तुम्हारे पास से यह कटार निकली है!'

किशोर काँप उठा। उसकी घिग्घी बँध गई। लड़खड़ाते स्वर मे उसने उत्तर दिया, नहीं सरकार, मैं खूनी नहीं।'

अफसर ने फिर उसे डॉटते हुये क्रोध के स्वर में कहा—'तू झूठा है। मुझे धोखा देना चाहता है। सच सच बता, तुमने उस व्यापारी की हत्या करके उसके कितने रुपये लूटे हैं।

किशोर की आँखो मे आँसू छलक आये। उसका अन्तर का कोना-कोना चिल्ला उठा। उसने हाथ बाँध कर रोते हुये स्वर मे कहा, 'मै खूनी नहीं सरकार, एक व्यापारी हूँ। मेरे पास आठ सहस्र रुपये हैं। मै व्यापार के लिये जा रहा हूँ।'

किन्तु कौन सुनता है, उस किशोर की। उसका रोना-धोना, गिड़-गिड़ाना, सब निष्फल गया, वेकार। वह पकड़ कर थाने मे ले जाया गया। उसके रुपये छीन लिये गये और चलाया गया उस पर हत्या और लूट का मुकदमा। उसे दण्ड मिला, दण्ड भी साधारण नहीं वहुत कठोर। २५ कोड़े और आजीवन जेल।

वश ही क्या था ? किशोर कारागार में जाकर जीवन के दिन बिताने लगा। एक एक करके धीरे-धीरे छब्बीस वर्ष बीत गये। किशोर वृद्ध हो गया। बाल पक गये, चमड़े लटक आये। अब वह पहले का सा किशोर न था। अब न वह हँसता था, न गाता था। न किसी से अधिक बात करता था और न करता था अपने समय को नष्ट। अपना काम करता और पुस्तकों पढ़-पढ़ कर अवसर के समय को काट देता था। पुस्तकों से उसे बड़ा प्रेम था। ईश्वर प्रार्थना उसे कभी न भूलती। बात-बात में उसका सिर ईश्वर के सामने झुका रहता था। इसी से सभी बन्दी और कर्मचारी भी किशोर को सब से अच्छा समझते और उसके साथ अच्छा ही व्यवहार भी करते थे।

किशोर को एक ही चिन्ता थी। केवल अपने कुटुम्बियों की। जब वह घर से निकला था, छोटे छोटे बच्चे थे; स्त्री थी। छब्बीस वर्ष बीत गये। न जाने वे जीवित हैं, या मर गये। किशोर का मन बराबर इसी चिन्ता के पथ पर दौड़ा करता था।

एक दिन कारागार में कुछ नये बन्दी आये। पुराने बन्दियों ने उन्हे घेर लिया। कहने लगे, कहां से आ रहे हो ? घर कहां है ? किस अपराध में पकड़े गये थे। दण्ड कितने दिन का मिला है, आदि आदि।

नवीन बन्दी एक एक करके उत्तर देने लगे। किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ। उन्हीं मे से एक ने कहा, 'मेरा घर शिकार-पुर है। नाम है हरदयाल !'

किशोर आश्चर्य-चकित हो उठा। शिकारपुर! यह तो उसी के गाँव का नाम है। वह आँखों मे आश्चर्य भर कर हरदयाल को देखने लगा। कुछ देर के पश्चात् उसने पूछा, 'भाई शिकारपुर मे किशोर नामक एक व्यापारी रहता था। क्या तुम उसका कुछ हाल चाल जानते हो?

नये वन्दी ने उत्तर दिया, 'जानता क्यों नहीं? उसके लड़के तो वहुत वड़े अमीर हैं। उन्होने अपने पास वहुत अधिक धन एकत्र किया है। किन्तु तुम उनके कौन होते हो? किस अपराध मे जेल में पड़े-पड़े सड़ रहे हो!

किशोर चुप रहा, किन्तु दूसरे वन्दियो ने किशोर की जेल की कहानी हरदयाल को सुनादी। हरदयाल आश्चर्य-चकित होकर किशोर को देख रहा था। वह एक साथ ही आश्चर्य के स्वर में वोल उठा, अरे तुम तो अव इतने वृद्ध हो गये कि पहचाने भी नहीं जाते।'

किशोर ने आँखों मे सावधानी भर कर हरदयाल को देखा और वड़ी ही सरलता से पूछा, 'क्यों भाई, क्या तुम मुझे जानते हो? तव तो कदाचित् तुम यह भी जानते होगे कि उस व्यापारी का वास्तविक हत्यारा कौन है?

अव हरदयाल जैसे सावधान सा हो गया। उसने व्यंग्य की हँसी हँसते हुये कहा, 'भला, यह भी कोई पूछने की वात है। रक्त से सनी हुई कटार तुम्हारी पोटली 'से निकली और हत्यारा कोई दूसरा होगा। जिस पोटली को तुम अपने सिर के

नीचे रख कर सोये थे, उसमे कोई दूसरा व्यक्ति कटार रख ही कैसे सकता है ?

किशोर ने समझ लिया, कि हरदयाल ही वह व्यक्ति है, जिसके कारण वह इतने दिनों से जेल की यंत्रणायें सह रहा है। और जिसके कारण उसका सारा जीवन ही नष्ट सा हो गया। किशोर के हृदय में हिंसा और बदला लेने की भावना नाच उठी। भीतर ही भीतर उसके हृदय में एक आग सी प्रज्वलित हो उठी। दिन मे न उसे सुख मिलता था, और न रात मे शान्ति। प्रति-हिंसा की भावना ने जैसे उसे उन्मत्त बना दिया।

तीन चार दिन के पश्चात् एक दिन रात अधिक बीत चुकी थी। किशोर जेल के अपने कमरे में पड़ा था, किन्तु उसकी आंखों में नींद नही थी। वह आकुल था, अशान्त था। कभी बैठता था, तो कभी उठकर टहलने लगता था। इसी समय सहसा उसे ज्ञात हुआ, कि दीवाल की मिट्टी धीरे धीरे खिसक रही है। किशोर अभी उसे देख ही रहा था, कि हरदयाल सेंध की राह से कमरे मे आ निकला, और तत्त्तण किशोर को भूमि पर गिरा कर उसकी छाती पर सवार हो गया। कहने लगा, 'आज मैं तेरे जीवन का अन्त कर दूँगा। खबरदार, यदि चूँ किया तो !'

किन्तु दैव की इच्छा ! बाहर कुछ खटका हुआ, और हरदयाल किशोर को छोड़ कर पुनः अपने कमरे में चला गया।

जेल मे सेंध ! दूसरे दिन प्रातःकाल जेल मे एक हलचल सी मच गई। जेल के कर्मचारी बन्दियों की संख्या गिनने लगे। किन्तु बन्दी तो सभी मौजूद थे ! फिर सेंध किसने और क्यों लगाई ? कर्मचारी बन्दियों से पूछताछ करने लगे। किन्तु किसी ने कुछ न बताया। किशोर भी बुलाकर जेलर के सामने लाया गया। जेलर जानता था, किशोर झूठ नहीं बोलता। किशोर ने सोचा, बता दूँ, हरदयाल का नाम, और आज सारा का सारा बदला एक साथ ही चुका लूँ ! किन्तु फिर उसने सोचा, नहीं मै ऐसा न करूँगा ! यदि हरदयाल को दंड मिल ही गया तो उससे मुझे क्या लाभ होगा ?

उसने जेलर से कहा, 'हुजूर मै सेंध लगाने वाले को अवश्य जानता हूँ, किन्तु मै उसका नाम नहीं बता सकता। आप इसके लिये चाहे मुझे जो दण्ड दे, मै भुगतने के लिये तैयार हूँ।'

उसी दिन रात को किशोर अपनी कोठरी मे सुख से सो रहा था। अब उसके मन मे न प्रतिहिंसा थी, और न बदला लेने की भावना। सहसा उसकी नींद खुली। उसने देखा हरदयाल उसके पैरो के पास बैठा हुआ है।'

किशोर धीरे से उठ कर बैठ गया। न डरा, और न संशकित हुआ। प्रेम के स्वर में पूछने लगा, 'कहो हरदयाल, अब क्या विचार है? '

हरदयाल की आंखे आँसुओं से लदी हुई थी। वह किशोर के चरणो पर गिर पड़ा। कहने लगा, क्षमा करो भाई, मेरे अप-

राध को। तुम देवता हो। मैंने हीं उस व्यापारी की हत्या की थी। मैं तुम्हारी भी हत्या कर देता, किन्तु बाहर कुछ खटका सा हुआ, और मैं तुम्हारी पोटली में कटार रख कर भाग गया। मैं कल ही अपना अपराध स्वीकार कर लूंगा, और तुम कारागार से छूट जाओगे।

किशोर ने उसके सिर पर हाथ फेरते हुये उत्तर दिया, अब इसकी आवश्यकता नहीं भाई।'

किशोर की महानता, इसके व्यक्तित्व की निर्मलता से हरदयाल का हृदय छलरी-छलरी हो गया। वह उसके सामने फूट-फूट कर रोने लगा। उसका वह हृदय पश्चात्ताप का था, दुःख का था। किशोर की आँखों में भी आँसू छलक आये। उसने कहा, 'रोओ न, हरदयाल, ईश्वर तुम्हे क्षमा करेंगे

दूसरे दिन प्रातः काल हरदयाल ने जेलर के पास जाकर अपनी और किशोर की पूरी कहानी सुनादी। जेलर ने किशोर को मुक्त किये जाने की आज्ञा देदी। सिपाही जब किशोर की मुक्ति का पत्र लेकर उसके कमरे में गये, तब वहाँ इस प्रसन्नता सूचक समाचार को सुनने वाला कोई था ही नहीं! केवल किशोर का निर्जीव शरीर भूमि पर पड़ा था।

सचमुच वह उसकी मुक्ति का दिन था।

# अन्तिम सीख

सन्ध्या का समय था। गुरु गोविन्दसिंह सरिता के एकान्त तट पर बैठे हुये थे। उनकी वह गम्भीर मुख मुद्रा! मानों वे कुछ सोच रहे हो! सचमुच वे कुछ सोच रहे थे। वे सोच रहे थे, मेरे जीवन का लक्ष्य! क्या मै वहां तक न पहुँचूँगा! क्या मै उसके अनुसार समस्त भारत को न जीत सकूँगा? आह, मेरी आशा! क्या वह धूल मे मिल जायगी?

सूर्य पश्चिम की ओट मे छिपता जा रहा था। सन्ध्या सघन होती जा रही थी। पर गुरु अपने विचारो मे निमग्न थे। सहसा किसी की पद-ध्वनि से उनका ध्यान भंग हुआ। उन्होने देखा, एक पठान।

पठान ने गुरु के सामने खड़ा हो कर कहा, 'महाराज आपने मुझसे जो घोड़ा खरीदा है, उसका दाम दे दीजिये! मै अपने देश जा रहा हूं।'

गुरु ने उत्तर दिया, 'जाओ कल आना! रुपया मिल जायगा।'

पर पठान क्यों मानने लगा? उसे केवल इतनी ही सी बात पर क्रोध आ गया। उसने गुरु का हाथ पकड़ कर कहा, चोर कहीं के! मै आज ही दाम लूँगा!'

गुरु की रगों में बिजली दौड़ गई। उनका अन्तर-अन्तर क्रोध से कांप उठा। थोड़ी ही देर के बाद चमकती हुई कटार उनके हाथ मे थी, और पठान का सिर भूमि पर!

गुरु को अपने इस कृत्य पर बड़ा दुख हुआ। भूमि पर पठान के सिर को नाचता हुआ देख कर उनकी आंखों मे आंसू भर आये। उन्होंने कुछ देर के लिये दोनों हाथ आंख पर रख लिये। फिर सिर हिला कर बोल उठे, 'मेरी कटार से ऐसा कलंक! जान पड़ता है, अब मेरा समय पूरा हो गया। मुझे इसका प्रायश्चित्त करना होगा, इस लगी हुई कालिख को धोना पड़ेगा!'

पठान का एक छोटा सा लड़का था। गुरु उसे अपने पास बुला कर उसका लालन-पालन करने लगे। बिल्कुल अपने ही बेटे की भांति, अपने ही हृदय के टुकड़े की तरह। वह भी गुरु से हिल-मिल गया। इसी तरह, जिस तरह लड़के अपने पिता से हिलते-मिलते हैं!

एक विधर्मी बालक पर गुरु का इतना स्नेह, इतनी कृपा! लोगों को आश्चर्य हुआ। लोग गुरु से कहने लगे, 'यह आप क्या कर रहे हैं गुरु जी! सिंह का बच्चा बड़ा होने पर सिंह ही होगा!

किन्तु गुरु ने कभी लोगों की इन बातों की परवाह न की। वे लोगों को यह कह कर शान्त कर देते थे, 'फिर ठीक ही तो है। वह सिंह का बच्चा है, इसीलिये तो मै भी इसे सिंह बना रहा हूं।'

गुरु बराबर उसे अपने हृदय का स्नेह देते गये। वह बड़ा हुआ, जवानी रग रग मे दौड़ उठी। गुरु को वह अपना गुरु मानता, पिता समझता। छाया की ही भांति उनके साथ साथ रहता, उनकी आज्ञाओं पर निछावर होता। गुरु के हृदय का सारा स्नेह अब उसी के लिये था, उसी युवक पठान के लिये। गुरु के सभी लड़के एक-एक करके युद्ध मे मारे जा चुके थे! अब वही पठान उनकी आंखों का तारा था। उनके प्राणों का प्राण था।

एक दिन प्रभात का समय था। पठान गुरु के समीप आया, और उनके पैर छूकर कहने लगा, 'गुरु जी, अब जाने की आज्ञा दे। कहीं नौकरी करके कुछ कमाऊं-धमाऊँ! आखिर कब तक इसी प्रकार बैठा रहूँगा!'

गुरु ने प्रेम से उसके कन्धे पर हाथ रक्खा, और कहा, 'बेटा अभी अन्तिम शिक्षा बाकी है।'

युवक पठान गुरु की ओर देखकर चुप हो गया।

दूसरे दिन सवेरे सूर्य निकल रहा था। गुरु ने युवक पठान को अपने पास बुलाया, और कहा, हाथ मे तलवार लेकर चलो मेरे साथ!' पठान हाथ मे तलवार लेकर गुरु के पीछे-पीछे चल पड़ा। गुरु के सेवको को आश्चर्य हुआ। भय और आशंका से वे भी गुरु के साथ चलने के लिये तैयार हुये, किन्तु गुरु ने उन्हे मना कर दिया।

नदी का जन-शून्य तट ! शाल के ऊंचे-ऊंचे वृक्ष चुपचाप खड़े थे। सरिता का स्वच्छ जल मन्द गति से आगे खिसक रहा था। चारों ओर निस्तब्धता थी। गुरु पठान युवक के साथ इसी निस्तब्धता में धीरे धीरे आगे बढ़ रहे थे। एक स्थान पर सहसा गुरु रुक गये। युवक भी रुक गया। गुरु ने उँगली से संकेत करके युवक से कहा, इस स्थान को खोदो !'

युवक भूमि खोदने लगा। कुछ दूर पर एक गड़ा हुआ पत्थर मिला। पत्थर पर लाल रंग के अगणित चिन्ह थे ! युवक उन चिन्हों को देखने लगा। गुरु ने कहा, देखते क्या हो ? ये चिन्ह तुम्हारे पिता के रक्त के चिन्ह है। एक दिन इसी स्थान पर मैंने तुम्हारे पिता की हत्या की थी। वह निरपराध था, वे कसूर था। आज अब तेरी बारी है युवक ! यदि तू अपने पिता का बदला लेना चाहता है, तो मैं सामने खड़ा हूँ। मुझे मार कर मेरे रक्त से अपने पिता की आत्मा को तृप्त कर !

युवक पठान ! पिता का खूनी उसकी आँखों के सामने ! आंखों से आग सी निकलने लगी। दाहिना हाथ झट से तलवार की मूठ पर जा पड़ा, गुरु खड़े थे, बिल्कुल निश्चल, बिल्कुल शान्त ! तलवार अभी उठी भी न थी, कि पठान की आखें गुरु की आंखों से जा मिली। पठान पानी-पानी हो गया। तलवार फेंक कर गुरु के चरणों से लिपट गया, और कहने लगा, शैतान से खेल न खेलिये गुरु जी ! मैं अपने पिता को भूल

चुका हूँ, भूल चुका हूँ। अब तो आप ही मेरे पिता हैं, गुरु हैं, भाई हैं, और सब कुछ है !'

गुरु ने प्रेम से उसे उठा लिया। गुरु की आंखो मे आंसू थे। किन्तु पठान ने गुरु की ओर न देखा। वह मुँह फेर कर वहाँ से चला आया, और अब गुरु से दूर ही दूर रहने का प्रयत्न करने लगा। अब न वह गुरु के साथ शिकार खेलने जाता, और न कभी हथियार लेकर अकेले उनके कमरे में। उसे आशका थी, अपनी हिंसा-वृत्ति से, अपनी बदला लेने की भावना से।

एक दिन की बात है, गुरु पठान के साथ शतरंज खेल रहे थे। गुरु जीतते गये, पठान हारता गया। दिन बीता, संध्या आई, और वह भी चली गई। किन्तु शतरंज बन्द न हुआ। सब लोग उठ उठ कर चले गये, पर पठान गुरु के साथ खेलता ही रहा। बार बार हारने से वह जैसे खीज सा गया था। गुरु ने कहा, पिता के खूनी के साथ इस प्रकार पागल की तरह खेलने से तुम्हारी जीत नहीं हो सकती !'

गुरु की बात समाप्त भी न पाई थी, कि पठान ने तलवार लेकर गुरु की छाती मे भोंक दी। गुरु ने कहा, अब मै सन्तुष्ट हुआ। आज तेरी अन्तिम सीख हुई। मै तुझे आशीर्वाद देता हूँ।"

---

# बैजू का त्याग

ये, वे दिन थे जब गुजरात पर सुल्तान बहादुरशाह और दिल्ली के राज-सिंहासन पर हुमायूँ के अधिकार थे। सारा भारत हुमायूँ के चरणों के नीचे, किन्तु गुजरात फिर भी सिर उठाये हुये था। वह हुमायूँ की आंखों को खटक रहा था, कांटे की तरह, शूल के सदृश !

आखिर हुमायूँ ने एक बहुत बड़ी सेना के साथ गुजरात पर आक्रमण कर दिया। सुल्तान लड़ा, बड़ी वीरता से लड़ा। किन्तु हार गया। भारत ही की भाँति गुजरात भी हुमायूँ के चरणों पर लोटने लगा।' उसने भी उसकी सत्ता स्वीकार कर ली।

वह विजय का दिन था। गुजरात की राजधानी अहमदाबाद में हुमायूँ, दरबार के मध्य में, सिंहासन पर आसीन था। उसके शरीर पर थी लाल पोशाक। लाल पोशाक युद्ध का चिंह है। सैनिक सामन्त अपने सम्राट को लाल पोशाक मे देखकर सोचने लगे, 'क्या अभी युद्ध समाप्त नहीं हुआ ? क्या गुजरात पर पूर्ण रूप मे विजय स्थापित नही हो सकी ?

हुमायूँ कुछ खीझा हुआ था। उसकी आँखें क्रोध उगल रही थीं। आखिर वह दरबार की मौनिमा को भंग करते हुये बोल

उठा, 'वीरो, गुजरात जीता अवश्य जा चुका है, किन्तु मेरी इच्छा अभी पूरी नही हुई। मेरी इच्छा तो तब पूरी होगी, जब तुम गुजरात की समस्त प्रजा को अपने वश में कर लोगे।

सम्राट हुमायूँ की आकांक्षा! सारे गुजरात मे मुग़ल सैनिक टिड्डी की भाँति छिटक पड़े। निरीह और निरपराध प्रजा मौत के घाट उतारी जाने लगी। चारों ओर से त्राहि त्राहि की आवाज़ उठने लगी। पर सुनता कौन है? मुग़ल सैनिक बराबर अपना काम करते ही गये।

एक दिन एक दुबला-पतला मनुष्य अपने प्राणो के डर से पागल की भाँति भागा जा रहा था। सर्वत्र ही तो भगदड़ मची थी। वह भी उसी भगदड़ में भागा जा रहा था। पर दुर्भाग्य! पीछे से एक मुग़ल सिपाही ने आकर उसे पकड़ लिया। सिपाही के हाथ में नंगी तलवार थी। उसके प्राँण काँप उठे। सोचने लगा, अब जीवित न रहूँगा। किन्तु फिर भी साहस करके बोला, मुझे न मारो, मारने से तुझे लाभ ही क्या होगा? यदि तुम मुझे छोड़ दो, तो तुझे अपने सिर के बराबर सोना दूंगा!'

सिर के बराबर सोना! सिपाही के मुँह मे पानी भर आया। कहने लगा, 'लाओ सोना, नही तो अभी तलवार से गर्दन उड़ा देता हूँ।'

सिपाही ने उसके सिर पर बँधी हुई पगड़ी खींच ली। उसी पगड़ी से उसे एक वृक्ष मे बाँधने लगा। सहसा कोई पीछे से बोल उठा, 'छोड़ दो उसे! पेड़ मे मत बाँधो।'

सिपाही ने पीछे फिर कर देखा, उसकी सेना का नायक। नायक हिन्दू था। सिपाही क्या करे ? उसके मन में सन्देह अवश्य पैदा हुआ, किन्तु वह उसका नायक था। सिपाही ने उसे मुक्त कर दिया।

नायक उस पागल मनुष्य को अपने साथ लेकर हुमायूँ के पास गया। सिपाही को नायक का यह काम बुरा तो लगा ही था, वह भी हुमायूँ के पास जा पहुँचा। उसने हुमायूं से कहा, 'जहांपनाह' यह आदमी सुल्तान बहादुर का मुख्य आदमी है। मैं इसे मार डालना चाहता था किन्तु नायक ने इसे बचा लिया। यदि यह जीता रहा तो हम लोगों को हानि पहुँचने की आशंका है।'

हुमायूं की आँखें चढ़ गईं। वह त्योरियां बदल कर नायक से बोला, 'यह तो विश्वास-घात है, धोखा है। खोलो इस रहस्य की बात को ! नहीं, देखते हो न मेरी तलवार को; तुम भी इसकी घाट उतार दिये जावोगे !'

नायक का मस्तक सम्राट के सामने झुक गया। उसने नम्रता के साथ उत्तर देते हुये कहा, मैंने इसे इसलिये नहीं बचाया है कि श्रीमन् यह हिन्दू है ? बल्कि मैंने इसे इसलिये बचाया है कि यह भारतवर्ष का वैभव है, उसकी श्रेष्ठ संगीत कला की साक्षात् सजीव प्रतिमा है। मुझे विश्वास नहीं, कि हुमायूं ऐसे विचार और कलाप्रेमी सम्राट इसका मरना पसन्द करेंगे।

हुमायूं ने पुनः क्रोध के स्वर मे कहा, 'तुम्हारा इस वात का प्रमाण क्या है नायक ?

नायक ने उत्तर दिया, 'प्रमाण यह स्वयं ही है श्रीमान् ! इसका नाम है, वैजू वावरा। आप इसे अपना सुयश गाने की आज्ञा दे। आपको अपने ही आप प्रमाण मिल जायगा !

सम्राट का आदेश हुआ। वैजू गाने के लिये वैठा। किन्तु वह सम्राट की प्रशंसा कैसे करे ? सम्राट ने तो उसकी मातृभूमि को कुचल दिया था। उसके दिल मे तो दर्द था, पीड़ा थी। उसके कंठ में जो देवी निवास करती थी, उसके सिद्धांतो के यह विरुद्ध था कि वह किसी की झूठी प्रशंसा करे। वह भॉंट तो था नहीं, वह तो कलाकार था, सगीतज्ञ था।

वह गाने लगा। उसके कठ मे स्वर्गीय आकर्षण था। सत्य की ज्योति थी। उसने सम्राट को ललकारा, 'क्रूर राजा तेरी तलवार का शिकार वनने के लिये एक भी मनुष्य जीता न वचा। इतने पर भी यदि तेरी प्यास न वुझी हो, मनुष्य को काट डालने की तेरी आशा पूरी न हुई हो, तो इन मरे हुये मनुष्यो को जिला और उन्हे फिर से क़त्ल कर !'

सम्राट दहल उठा। दरवारी कम्पित हो गये। वैजू का स्वर पर्दे-पर्दे को फाड़ता हुआ मर्म मे जा पहुंचा। कितने रोने लगे, कितनो के मस्तक झुक गये। सम्राट का सिर लज्जा से नीचे झुका जा रहा था। वैजू के मर्म भेदी स्वर ने उसे व्याकुल कर दिया। वह आँखों को वन्द कर एक कोठरी के भीतर भगा।

कुछ देर के पश्चात् जब वह कोठरी के भीतर से निकला, तब उसके शरीर पर नीली पोशाक शान्ति की सन्देश वाहिका थी। उसे देखकर सैनिक सामन्त समझ गये, कि अब सम्राट की इच्छा पूरी हुई, अब युद्ध बन्द होगा।

हमायूं ने सिंहासन पर बैठ कर आज्ञा दी, एक शाही पोशाक लाओ!

सम्राट ने अपने हाथो से उसे बैजू को पहनाया और कहा, 'मैं तुम्हारे संगीत पर मुग्ध हूँ बैजू! मैं तुम्हें अधिकार देता हूँ, कि तुम चाहे जो करो। तुम सचमुच भारत के वैभव हो!

बैजू का मस्तक सम्राट के सामने झुक गया। उसने नम्रता पूर्वक उत्तर दिया, 'मैं भिखारी हूँ श्रीमान्!'

सम्राट ने कहा, 'नहीं बैजू तुम अमूल्य हो! मेरे पास तुम्हें देने के लिये कुछ भी नहीं हैं, फिर भी तुम्हारी जो कुछ इच्छा हो मांगो।'

केवल सम्राट की दया—बैजू ने उत्तर दिया।

नहीं कुछ और—सम्राट ने आग्रह पूर्वक कहा।

अच्छा तो युद्ध बन्द कर दीजिये श्रीमान्!—बैजू की यही मांग थी, सुलतान बहादुर और उसके सगे-सम्बिन्धियों को मुक्त कर दीजिये।

सम्राट का मस्तक बैजू की इस मांग के सामने झुक गया, और बैजू का मस्तक ऊँचा उठ गया, बहुत ऊँचा।

# विद्वान कुली

वंगाल के उस छोटे से स्टेशन पर जव गाड़ी रुकी, तव सूर्य पश्चिम की ओट मे छिप रहा था। रजनी धीरे-धीरे अपने अंधकार को फैलाती हुई आगे खिसकती आ रही थी, मानो वह घोषणा कर रही हो कि जो कुछ करना हो, शीघ्र कर लो; जहाँ जाना हो, शीघ्र पहुॅच लो, नहीं तो मेरा राज्य, सर्वत्र अन्धकार !

गाड़ी स्टेशन पर कुछ देर तक रुक कर पुनः धुँआ फेंकती हुई चल पड़ी। जो दो चार यात्री उतरे थे, उन्होंने भी टिकट दे कर अपने अपने घर का रास्ता पकड़ा। किन्तु वह युवक खड़ा ही रह गया। शरीर पर कोट, पतलून, टाई, सिर पर हैट और वढ़िया जूता। दृष्टि पसार कर इधर उधर देख रहा था। छोटा सा वेग और विस्तर का वण्डल भूमि पर पड़ा था। उसी के लिये वेचारे को कुली की खोज थी। किन्तु वहाँ कुली कहाँ ? गाँव के स्टेशन मे भी भला कहीं कुली मिलता है ? और फिर सन्ध्या का समय ! आस पास के गांव वाले अपने अपने घर जमे थे।

सन्ध्या सघन होती आ रही थी। ज्यो ज्यो अंधकार वढ़ता जा रहा था, त्यों त्यों उसकी आकुलता भी वढ़ती जा रही थी।

सोच रहा था, आज घर न पहुँच सकूँगा क्या? किन्तु यहां इस स्टेशन पर तो कुछ खाने-पीने को भी न मिलेगा।

युवक अभी सोच ही रहा था कि कहीं से एक मनुष्य घूमता घामता युवक के पास आ पहुँचा। वह बहुत ही सरल था। सादे कपड़े पहने हुये था। मानों वह युवक की ही सहायता के लिये आया हो। उसने युवक के पास जा कर नम्रता से पूछा, आप क्यों खड़े हैं? आपको क्या चाहिये?

युवक ने देखा, एक साधारण ग्रामीण। उसने उत्तर दिया, कुली। क्या मेरा यह सामान मेरे घर तक पहुँचा दोगे? काफी मजदूरी दूंगा?

उस मनुष्य ने कहा, 'क्यों नहीं?'

उसने बिना कुछ मोल-चाल किये ही युवक का सामान अपने सिर पर लाद लिया। रास्ते भर दोनों किसी से कुछ न बोले। घर पर पहुँच कर युवक घर के भीतर चला गया और एक दूसरा व्यक्ति हाथ में लालटेन लेकर आया। वह युवक का बड़ा भाई था।

उसने कुली से कहा, समान रख दो और लो ये पैसे लो।

कुली ने सामान रख दिया। किन्तु पैसे की ओर उसने आँख भी न घुमाई। जिस ओर से आया था, उसी ओर फिर उसके पैरों ने चलना आरम्भ किया।

युवक का भाई आश्चर्य-चकित हो उठा। आज तक उसने ऐसा कुली कहीं न देखा था, जो परिश्रम करने के पश्चात् मिलने

पर भी पैसा न ले। वह कुतूहल वश आगे बढ़ा और कुली के आगे खड़ा हो कर लालटेन के प्रकाश में उसका मुख देखने लगा।

सहसा उसके मुख से निकल पड़ा, 'अरे !'

कुछ ही देर के पश्चात उसका मस्तक कुली के चरणों पर था।

कुछ ही देर में समस्त गांव में यह खबर फैल गई कि ईश्वर चन्द्र विद्यासागर कुली के रूप में। गांव वाले दर्शन के लिये दौड़ पड़े। वह युवक भी आया। किन्तु उसका सिर लज्जा से नीचे गड़ा जा रहा था।

युवक विद्यासागर के चरणों पर गिर पड़ा और उनसे अपने इस अपराध के लिये क्षमा मांगने लगा। विद्यासागर ने उसे प्रेम से उठाते हुये कहा, 'क्षमा की कोई आवश्यकता नहीं' केवल उद्योग और आत्म निर्भरता के पाठ पढ़ो !

कुछ लोगो का कहना है कि जिस समय की यह घटना है, उस समय विद्यासागर विद्वान होने के साथ ही साथ धारा सभा के सदस्य थे। सचमुच विद्यासागर ऐसे ही थे। उनका सम्पूर्ण जीवन ही सादगी, उद्योग और आत्म-निर्भरता से भरा हुआ है।

# आत्म-दृढ़ता

वह एक युग था। पंचनद की क्रीड़ा स्थली पंजाब में 'गुरु की जय, वाह गुरु की जय, जय अलख निरंजन।' कंठ कठ से, प्राण प्राण से यही आवाज़ निकल रही थी, और हो रहा था, घर घर में इसी मंत्र का महा जप! स्त्री, पुरुष, तरुण, वृद्ध, बालक सभी उच्च स्वर से पुकार रहे थे, जय अलख निरंजन!

उसमें जादू था, आकर्षण था। जिसके अधरों पर वाह गुरु की जय के साथ यह शब्द आता, वह पागल बन जाता। पागल बन जाता, अपने स्वदेश के प्रेम, अपनी मातृभूमि की भक्ति में। पंजाब के घर घर से ऐसे ही पागल निकलते हुये दिखाई दे रहे थे। उनके सिर में लम्बे केशों की वेणी बँधी होती, और झूलता रहता था, कमर में कृपाण। वे एक विचित्र वीर थे, बहुत ही विचित्र। हृदय में जगत के सारे स्नेह-सम्बन्ध को तोड़ कर घर से निकले थ। दृष्टि थी, केवल स्वदेश पर, मातृभूमि पर।

सुदूर दिल्ली के राज-भवन मे भी उनका उच्च स्वर गूँज उठा। वहां भी दीवालों को चीर कर उनके 'अलख निरंजन' की समा गूँज उठी। दिल्ली-पति ने आंखे मल कर आश्चर्य से पूँछा, यह किसकी समा है?

किसी ने उत्तर दिया, 'पंजाब के युवक सिक्खों की। सभी

वीर वंदा वैरागी के 'अलख निरंजन' रस को पी कर मस्त हो उठे हैं।

मुग़ल सम्राट दिल्ली-पति आकुल हो गया। उसकी आंखों की नींद आंखो ही मे समा गई। उसने सेनापति को बुला कर कहा, 'पंजाब से उठने वाली इस आवाज़ को वन्द करो इससे न जाने क्यों, मेरे मन की दीवालें भी हिली जा रही हैं ?

सम्राट की आज्ञा। मुग़ल सेना दल-वल के साथ चल पड़ी पंजाब की ओर। गुरुदासपुर मे भयंकर युद्ध हुआ, वहुत ही भयंकर। युवक सिक्ख 'अलख निरजन' और 'वाह गुरु की जय' के साथ अपने प्राणों का उत्सग करने लगे। किन्तु फिर भी भाग्य ने दिल्लीपति मुगल सम्राट के गले मे जयमाल डाली। वन्दा पकड़ लिया गया। अकेला नहीं, अपने सात सौ साथियों के साथ। मुगल सेना सव को पकड़ कर दिल्ली ले गई।

वह एक दिन था। दिल्ली की प्रधान सड़क के महलों की खिड़कियाँ खुली थीं। खिड़कियों से स्त्रियाँ और वच्चे उत्सुकता-पूर्वक सड़क की ओर झांक रहे थे। सड़क की दोनो पटरियो पर मानव-समूह उमड़ा सा पड़ रहा था। इधर उधर शाही पहरेदार भी खड़े थे, वहुत ही सतर्क वहुत ही सावधान ! कुछ ही देर के पश्चात् लोगो के कान लौह-वेड़ियों की खनखनाहट से गूँज उठे। लोग देखने लगे, आँखों फाड़-फाड़ कर सड़क की ओर। वन्दा अपने सात सौ वीर मुग़लों के साथ वेड़ियां खनखनाता हुआ चला आ रहा था। आगे मुग़ल

सेना और पीछे मुग़ल सेना थी । बीच में थी, वह मतवाली टोली। सब के सब कह रहे थे, वाह गुरू की जय, जय अलखनिरंजन।"

सब के सब कारागार में डाल दिये गये। उन के लिये सम्राट का आदेश था, कत्लेआम । प्रति दिन प्रातः काल सौ सौ वन्दियों के मस्तक कटने लगे। मृत्यु के समय भी उनके अधरों पर वही स्वर रहता, वाह गुरू जी जय, जय अलख निरंजन।'

सात दिन के पश्चात्। कारागार सूना हो गया था। सब के सब अपने कर्त्तव्य की वेदिका पर सो चुके थे। बच गया था वंदा । वही वन्दा, जिसने यह मंत्र फूंका था, जिसने लोगों को यह रस पिलाया था।

प्रभात का समय था, सूरज की किरणें फूट रही थीं, पक्षी चहचहा रहे थे। लौह वेड़ियों से जकड़ा हुआ वन्दा मुग़ल दरबार में हाजिर किया गया । उसकी आकृति पर अपूर्व ज्योति थी, अपूर्व आनन्द था । देखने वाले चकित हो उठे। आश्चर्य में पड़ गये।

काज़ी ने एक सात वर्ष के सुन्दर वालक को लाकर वन्दा के सम्मुख खड़ा कर दिया । उसने कहा, 'महावीर, कुछ ही क्षण पश्चात तू इस संसार से प्रयाण कर जायगा। तुमने वड़ी धीरता दिखलाई है। मुग़ल दरबार एक वार तेरी वीरता और देखना चाहता है। लो, हाथ में कटार लो और इस वालक का सिर धड़ से अलग करदो।'

महावीर वन्दा कोमल शिशु के ऊपर वार करे! किन्तु यह शिशु है कौन? उसी का पुत्र, उसी का हृदय! उसने विना किसी भय के काज़ी के हाथ से कटार लेली! लोग सोचते थे, वन्दा फिसल जायगा। किन्तु क्या वह फिसलने वाला वीर था? वह आत्म-त्यागी था। वहुत पहले ही सांसारिक ममता को ठोकर मार चुका था।

वन्दा ने हाथ में कटार लेकर वालक की ओर देखा। उसके मस्तक पर हाथ रक्खा, उसके अधरो को चूमा। फिर बोल उठा, 'वेटा, वोल, वाह 'गुरु की जय' जय अलख निरंजन,। कुछ डर तो नहीं मालूम हो रहा है?

लड़के ने पिता के स्वर को दुहराया, 'वाह गुरू की जय, 'जय अलख निरंजन! साथ ही निर्भय कंठ से बोल उठा, 'डर काहे का पिता जी! वाह गु रू की जय!'

वन्दा ने वांये हाथ से खींच कर उसे गले से लिपटा लिया, और साथ ही दाहिने हाथ से कटार भी भोक दी।' वालक भूमि पर गिर पड़ा। उस समय भी उसके मुख पर वही था,— 'जय अलख निरंजन 'वाह गु रू की जय!'

सारा मुगल दरवार सन्न हो गया। उसी सन्नाटे मे लोगों ने यह भी देखा कि महावीर वन्दा का शरीर टुकड़े-टुकड़े के रूप मे पृथ्वी पर पड़ा है और जल्लाद सोच रहा है कि अव क्या करूँ।'



# शिवाजी की उदारता

अर्द्धरात्रि का समय था। महाराज शिवाजी अपने शयन-कक्ष में सो रहे थे। कक्ष में धीरे धीरे एक किशोर बालक ने प्रवेश किया। उसके हाथ मे तलवार थी, वह महाराज शिवाजी के पलॅग के समीप खड़ा होकर उनकी ओर देखने लगा। महाराज शिवाजी सो रहे थे, गाढ़ी नींद में। बालक सोचने लगा, क्या चला दूँ तलवार? अवश्य! मुझे धन मिलेगा, ग़रीबी से जीवन-मुक्त हो जायगा।

बालक की भुजा उठ गई। अभी तलवार ऊपर ही थी कि पीछे से एक मनुष्य ने उसे पकड़ लिया। बालक सशंकित हो उठा। उस मनुष्य ने डाँट कर कहा, हत्यारा।

शिवाजी की आंखें खुल गईं। वे उठकर बैठ गये। उन्होंने देखा, एक किशोर शिशु को पकड़े हुये ताना जी! ताना महाराज शिवाजी के एक बहुत ही विश्वस्त सेनापति थे।

महाराज शिवाजी जब तक कुछ बोले, ताना जी बोल उठे, 'यह आपकी हत्या करना चाहता था महाराज! इसे मैने आप पर प्रहार करते समय पकड़ा है!

बालक के हाथ में तलवार थी। वह चुपचाप खड़ा था। किन्तु उसकी आकृति पर भय न था। वह जैसे कुछ सोच रह

था। शिवाजी ने वालक की ओर देखा और फिर पूछा—'तुम कौन हो वालक !

मेरा नाम मालोजी है महाराज !—लड़के ने उत्तर दिया !

तुम यहां किस उद्देश्य से आये थे—शिवाजी ने पूछा।

वालक ने उत्तर दिया, 'आपकी हत्या करने के लिये महाराज !' शिशु की आकृति पर निर्भयता थी, दृढ़ता थी।

क्या तुम जानते नहीं थे, इसका परिणाम क्या होगा ?—शिवाजी ने शिशु की ओर देखकर कहा।

जानता था महाराज !—वालक ने उत्तर दिया पकड़े जाने पर दण्ड, मृत्यु दण्ड।

फिर तुम मेरी हत्या करने के लिये क्यो आये मालो ? शिवाजीने पूछा—क्या तुझे अपने प्राणो की ममता नहीं थी ?

नहीं महाराज !—वालक ने उत्तर दिया—जव वृद्ध माँ चारपाई पर पड़ी हुई भूख की ज्वाला से साँसे तोड़ रही हो, तव फिर प्राणों की ममता कैसी ?

किन्तु उससे और मेरी हत्या से क्या सम्बन्ध है युवक—शिवाजी ने आश्चर्यचकित होकर पूछा।

सम्बन्ध है महाराज, वहुत कुछ सम्बन्ध है—वालक ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया। आप नही जानते महाराज, आप ही इसके कारण है। मेरे पिता आपकी सेना मे नौकर थे। उन्होंने आप ही की सेवा करते करते अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया है।

अब इस संसार में हम माँ-बेटे को जीवन का कोई अवलम्ब नहीं। मां कई दिनों से रुग्ण होकर चारपाई पर पड़ी है। तीन दिन से उसके मुख में एक दाना भी न गया, एक दाना भी न गया !!

बालक की आँखें छलछला उठीं। उसकी सारी दृढ़ता थोड़ी देर के लिये जैसे सो ही गई। शिवाजी विचार-निमग्न हो गये। कुछ देर तक सोचते रहे, फिर बोले—किन्तु मेरी हत्या से तुम इस दारुण अवस्था से छुटकारा कैसे पासकते थे मालो।'

पा सकता था महाराज,—मालो ने उत्तर दिया। आपके शत्रु सुभागराय ने मुझे आपही की हत्या करने के लिये भेजा है। उसने कहा है; कि यदि मैं आप के जीवन को अन्त कर दूं तो वह मुझे धन अधिक देगा।

शिवाजी आश्चर्य चकित होकर मालो की ओर देखने लगे। मालो हाथ में तलवार लिये सिर झुकाये हुये खड़ा था।

शिवाजी अभी सोच ही रहे थे, कि ताना बोल उठे, 'तो अब मरने के लिये तैयार हो जा मालो ! तेरे इस भयानक अपराध से महाराष्ट्र को धरती भी काँप उठी हैं। तू आज महाराज की हत्या के रूप में महाराष्ट्र का जीवन दीप बुझा कर उसे सदा के लिये अंधकार पूर्ण कर देना चाहता था !'

मृत्यु से मैं बिलकुल नहीं डरता—बालक ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया। इस प्रकार की मृत्यु तो क्षत्रियों की जीवन संगिनी है। किन्तु.........।

महाराज शिवाजी ने सिर ऊपर उठाया, और आश्चर्य-चकित हो कर बालक की ओर देखा। बालक की आकृति पर ज्योति थी, दृढ़ता थी। वह भीतर ही भीतर शिवा जी के हृदय मे घट गई। किन्तु फिर भी उन्होने बालक के भय को बढ़ाते हुये कहा, 'फिर किन्तु क्या ?'

बालक ने उत्तर दिया, 'मृत्यु के पूर्व एक बार मरती हुई मां को देखना चाहता हूँ, उसके चरणों को छूना चाहता हूँ ! अत जाने की आज्ञा चाहता हूं। सवेरा होते होते मैं स्वयं आ जाऊँगा !

'किन्तु यदि तुम भाग जाओ तो' शिवाजी ने कहा।

'मै क्षत्रिय बालक हूँ !' बालक ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—क्षत्रिय बालक कभी भी झूठ नही बोलते। एक बार मुख से जो निकल गया, उसका प्राण-पण से पालन करते है।

शिवा जी ने मालो को घर जाने की आज्ञा दे दी !

सवेरा हो चुका था। महाराज शिवा जी दरबार में बैठ कर तानाजी के साथ बातें कर रहे थे। इसी समय ड्योढ़ीदार ने आ कर सुचना दी, 'महाराज एक बालक आया है। आपसे मिलना चाहता है।'

बालक दरबार मे उपस्थित हुआ। बालक कौन था ? वही मालो, दरबार मे पहुँचते ही उसके मुख से निकल

पड़ा—मैं आगया महाराज ! मुझे अब मृत्यु दण्ड मिलनी चाहिये ?

ऐसे वीर बालक कोशिवाजी मृत्यु दण्ड दे ! न, न, यह कभी न होगा ! शिवाजी ने सिंहासन से उत्तर कर बालक को गले से लगा लिया । साथ ही उनका हृदय भी अधरों पर बोल उठा, बालो तू देश का रत्न है। तेरे ही ऐसे रत्न राष्ट्र माता की कुक्षि को उज्वल करते हैं, उसकी मर्यादा बढ़ाते है !



# शतमन्यु

सत्य का युग था। वही सत्य का युग, जिसमें चारों ओर सुख का सागर सा लहरा रहा था। किन्तु एक बार उस सत्य के युग में भी अकाल दौड़ पड़ा! दौड़ पड़ा मुँह फैला कर। सरिता सर सभी सूख गये। चारों ओर हाहाकार; चारों ओर त्राहि-त्राहि! कहीं एक बूँद जल भी न मिलता था। पक्षी, मनुष्य सभी अपने अपने प्राणों के तन्तु तोड़ने लगे।

नृपतियो ने अपने अपने कोष खोल दिये। बुभुक्षित दल के दल मे नृपतियों के द्वार पर पहुँचने लगे। वे लुटाने लगे, मुक्त हस्त होकर उन्हें अपने कोष। किन्तु आखिर कब तक कोष चलते! नृपतियों के कोष भी खाली हो गये, अकाल का मुख फैला ही रहा, फैला ही रहा!'

अकाल चारों ओर मुँह फैला कर दानव की भाँति दौड़ रहा था। माता-पिता की आखें के सामने ही आंखें के तारे दम तोड़ रहे थे। देश के नृपतियों से न देखा गया। उनकी प्रजा लुट रही थी, चारों ओर से भयानक हाहाकार उठ रहा था। उन्होने एक सभा की। सभा में राजा थे, ऋषि थे और थे प्रजा के लोग। लोग सोच रहे थे, अकाल से कैसे छुटकारा पाया जाय? कैसे मनुष्यों को बचाया जाय?

एक वूढ़े ऋषि ने उठ कर कहा, 'एक ही उपाय है, केवल एक ही !'

राजा ने पूछा, 'कौन सा ऋषिवर ?'

ऋषि ने कहा, 'नरमेध यज्ञ !' मनुष्यों की वलि इन्द्र को चढ़ाई जाय ! विश्वास है, वह उससे प्रसन्न होंगे।

सभा में सन्नाटा छा गया। लोग सोचने लगे, नरमेध यज्ञ! किन्तु इस यज्ञ के लिये मनुष्य कहाँ मिलेंगे ? कौन प्रसन्नता पूर्वक यज्ञ की वेदिका पर प्राणों को उत्सर्ग करने के लिये तैयार होगा ?

सब के साथ ही साथ सभा में वैठे हुये एक युवक ने भी ऋषि की यह वात सुनी। उसका नाम था शतमन्यु। वह उठ कर सभा से वाहर निकल आया और घर की ओर चल पड़ा।

घर पर उसके वृद्ध मां-वाप भूख की ज्वाला में तड़प रहे थे, पानी-पानी की चीत्कार से मिट्टी की दीवालों को भी दहला रहे थे। शतमन्यु ने वारी वारी से दोनों के पैर छूकर कहा, 'पिता-माता, अव मैं जा रहा हूँ; सदा के लिये जा रहा हूँ ! मुझे आज्ञा दीजिये !'

तड़पते हुये माता-पिता की चीत्कार वन्द हो गई। जैसे भूख-प्यास विस्मृत-सी हो गई हो। दोनों एक साथ आकुल स्वर में वोल उठे, 'कहाँ जा रहे हो वेटा ? अपने मुख से यह कैसी वात निकाल रहे हो ?

'नरमेध यज्ञ में अपना बलिदान करने के लिये पिता जी !' शतमन्यु ने उत्तर दिया। 'ऋषिवर ने कहा है कि नरमेध यज्ञ करने से इन्द्र प्रसन्न होंगे और जल वर्षा होगी। देश के बच्चे दम तोड़ रहे हैं, मातायें भूख की ज्वाला में छटपटा रही हैं। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है। ऐसे समय में किस युवक की आत्मा शान्त रह सकती है पिता जी ! मैं मानता हूं कि हम आप दोनों के अकेले हैं, किन्तु आप अपने इस अकेले को देकर लाखों-करोड़ों के प्राण बचा सकते हैं। जाने की आज्ञा दीजिये। विलम्ब हो रहा है !'

शतमन्यु आंखो में आंसू भर कर मां-बाप के चरणों पर गिर पड़ा। मां-बाप ने बारी-बारी से उसे अपनी छाती से लगा लिया और कहा, 'जाओ बेटा, प्रसन्नता पूर्वक जाओ। यदि तुम्हारे बलिदान से अकाल दूर हो, तो तुम सप्रेम अपने को बलिदान कर दो। हम दोनों कितने सुखी, कितने भाग्यशाली ! दुख मे आग्रस्त प्राणियो के कष्टों को दूर करने के लिये मेरा पुत्र अपने प्राणों को यज्ञ की वेदिका पर चढ़ाने जा रहा है।

यहाँ सभा मे वही सन्नाटा, वही मौनिया ! सबकी आंखों के सामने था, नरमेध यज्ञ। पर कौन अपने प्राणों की बलि चढ़ाये ? कौन अपने अमूल्य जीवन को नष्ट करे ? फिर क्या नरमेध यज्ञ न हो सकेगी—ऋषिवर ने पूछा।

'होगी महाराज !'—सभा में एक ओर से आवाज आई !

लोग आश्चर्य-चकित होकर उस ओर निहार उठे। वह एक ब्राह्मण युवक था—वही शतमन्यु। बड़ी दृढ़ता के साथ खड़ा होकर कह रहा था, 'यज्ञ होगी महाराज! यज्ञ की वेदिका पर उत्सर्ग होने के लिये मेरे प्राण तैयार हैं।

सभा स्थल प्रसन्नता और आह्लाद के स्वर से गूंज उठा होने लगी शतमन्यु पर पुष्प वर्षा। वह धन्य था, महा धन्य। संकट में आग्रस्त मनुष्यों के लिये अपने युवक जीवन का बलिदान कर रहा था। सभा में एकत्र हुये मनुष्य उसे बड़े आश्चर्य और बड़ी श्रद्धा के साथ देख रहे थे और कर रहे थे, उसके जीवन की देवताओं से तुलना।

यज्ञ की तैयारियाँ होने लगी। शतमन्यु बलिदान की सज्जा से सजकर यज्ञ स्तम्भ के समीप जाकर खड़ा होगया। सभा में शान्ति थी, निस्तब्धता थी। सब आंखों में भक्ति भर कर सिर झुका कर खड़े हुये शतमन्यु की ओर देख रहे थे, लोगों ने देखा उसपर आकाश से पुष्प बरस रहे हैं।'

लोग आश्चर्य-चकित होकर आकाश की ओर देखने लगे। आकाश के मध्य में एक ज्योति स्थित थी। उसके साथ और भी अनेक ज्योतियां थीं। सभी धन्य और महाधन्य के स्वर के साथ कर रही थीं, शतमन्यु पर पुष्प वर्षा! अन्त में उस प्रमुख ज्योति ने कहा, 'मैं इन्द्र हूँ। मैं तुम पर अधिक प्रसन्न हूँ बेटा! जिस देश में तुम्हारे ऐसे युवक हों, वह क्या कभी दुख-ग्रस्त

रह सकता है ? अब यज्ञ की आवश्यकता नहीं ! शीघ्र ही देश का अकाल दूर होगा !

इन्द्र के आशीर्वाद के साथ ही साथ सघन घन आकाश मे छा गये । जल वृष्टि होने लगी । लोगों के जाते हुये प्राण पुनः लौट आये । और मनुष्य, पशु, तथा पत्ती, सभी करने लगे, आह्लाद से शतमन्यु का कीर्ति गान !

---

# वज्र की कहानी

प्राचीन काल की बात है; अत्यन्त प्राचीन काल की। देवता और राक्षसों ने मिलकर समुद्र मन्थन किया था। समुद्र मंथन से जो अमृत निकला था; उसे देवताओं ने धोखे में डालकर पी लिया था।

किन्तु राक्षस बड़े शक्तिशाली थे, बड़े प्रकाण्ड वीर थे। इस पर भी ज्ञान और चेतना से शून्य! इतने पर भी यदि कहीं उन्हें अमृत मिल जाता, तो फिर क्या संसार की रक्षा हो सकती? नहीं, कदापि नहीं, वे संसार को उलट-पुलट देते और कर देते देवताओं का सर्वनाश।

किन्तु क्या राक्षस शांत रहे? नहीं, देवताओं की चालाकी उनके हृदय में काँटे की भाँति चुभती रही। चाहे जिस तरह से हो, वे देवताओं से इसका बदला लेंगे, उन्हें इस विश्वाघात का स्वाद चखायेंगे!

राक्षस मन ही मन अवसर की प्रतिक्षा करने लगे। भीतर ही भीतर देवताओं के सर्वनाश की तैयारी करने लगे।

उन दिनों असुरों का राजा था, वृत्र। बड़ा ही दुर्दान्त, बड़ा ही प्रतापी और बड़ा ही तेजस्वी। आज तक ऐसा राजा असुरों के वंश में कभी उत्पन्न नहीं हुआ था।

सुयोग पाकर वृत्र ने देवताओं पर आक्रमण कर दिया। स्वर्ग में हलचल मच गई। स्वर्ग पति इन्द्र की आँखों में न नींद, न मुख मे आहार ! चिन्ता की विकराल अग्नि हृदय के कोने कोने मे जल उठी। शरीर स्याह पड़ गया, देवताओं ने राक्षसों का सामना किया। किन्तु अन्त में पराजित हो गये। इन्द्र को भी प्राणों के लाले पड़ गये। स्वर्ग को छोड़कर किसी प्रकार मृत्यु लोक में पहुँचे और नैमिपारण्य मे रहने लगे।

स्वर्ग पति इन्द्र ! कल देवतओ के स्वामी थे, स्वर्ग के राजा थे। किन्तु आज नैमिपारण्य मे आश्रय-हीन भिखारी की भाँति घूम रहे हैं। इसी को कहते हैं, नियति का चक्र। अमृत के प्रभाव से अमर हैं, नहीं तो आश्चर्य क्या कि प्राणों से भी हाथ धोते, जीवन को भी खो वैठते !

राक्षसों की स्फूर्ति को क्या कहना ? राक्षस अव स्वर्ग के अधिपति थे। स्वर्ग के प्रासाद पर उनकी विजय-वैजन्ती उड़ रही थी। असुरो का स्वामी वृत्र स्वर्ग का राजा। आमोद प्रमोद, सुख और आनन्द, जैसे फूटे से पड़ रहे थे। अव क्या चाहिये ? चारो ओर असुरो का राज्य ! वे और भी उन्मत्त होकर अत्याचार की सृष्टि करने लगे ! देवताओं का नन्दन कानन उजड़ गया, स्वच्छ सलिला मन्दाकिनी धूमिल पड़ गई । किन्तु इतने पर भी असुर न शान्त हुये। वृत्र महिषी इन्द्रिला असुरों की सहायता से इन्द्राणी को नैमिपारण्य से पकड़ लाई, और उसे दासी का काम दिया गया। देवताओं का दर्प चूर्ण हो गया,

उनका अस्तित्व धूल में मिल गया। चारों ओर असुरों का राज्य, उनकी कीर्ति की दुहाई !

देवता भागे भागे फिर रहे थे। असुरों ने चारों ओर अत्याचार की भयानक आग सुलगा दी थी। इन्द्र के दुख की सीमा नहीं। वृत्र शंकर से वरदान प्राप्त करके अमर बन गया था। उसे कौन मारे, कौन उसका सर्वनाश करे ? वरदान की शक्ति से वह अजेय था, अविजित था।

अन्त में इन्द्र उन्हीं शंकर के पास कैलास पर्वत पर गये शंकर एक बहुत बड़े योगी थे। वे इसके पूर्व ही अपनी योग-शक्ति से यह जान गये थे, कि वृत्र उनकी वरदान-शक्ति को पाकर कितना उद्दण्ड बन गया है, कितना स्वेच्छाचारी हो गया है इन्द्र को भिखारी के रूप में देख कर उनका हृदय क्रोध से काँप उठा। आँखें जलने लगीं। उन्होंने कहा, 'देवराज मुझे अत्यन्त दुख हो रहा है। मुझे विश्वास न था, कि वह राक्षस वरदान शक्ति को पाकर इस प्रकार स्वेच्छाचारी बन जायगा !

जाने दो, जो हुआ, वह हुआ। जाओ देवराज, मृत्यु लोक में अलकनन्दा नदी के किनारे दधीचि के आश्रम में जाओ मेरा परम प्रिय भक्त वही सर्व त्यागी दधीचि यदि देवताओं के कल्याण के लिये स्वेच्छा से अपने शरीर की हड्डियों का दान करे, तभी तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी, तभी देवताओं के दुःख दूर होंगे। और फिर जगत आश्चर्य-विमुग्ध होकर देखेगा, कि

उस परोपकारी आत्मत्यागी में कितना तेज है ! उसके शरीर की हड्डियों में कितनी शक्ति है !"

इन्द्र के मन में आशा का कुछ संचार हुआ। वे शंकर को प्रणाम करके दधीचि के आश्रम की ओर चले। मार्ग में उन्होंने अपने साथ नारद को भी ले लिया।

संध्या हो रही थी। देवराज नारद के साथ दधीचि के आश्रम में जा पहुँचे। महर्षि ने उनकी आदर-अभ्यर्थना करने के पश्चात् आने का कारण पूछा। देवराज कहें तो क्या कहें ? महर्षि की आकृति पर दौड़ते हुये आनन्द को देख कर वे और भी अधिक दुखी हो उठे, उनका चेहरा परिम्लान हो गया।

पर महर्षि से असली बात कैसे छिपी रह सकती थी ? उन्होंने ध्यान-शक्ति से सब कुछ जान लिया। उनके चेहरे पर और भी अधिक आनन्द की ज्योति खिल गई ! उन्होंने आनन्द की वर्षा करते हुये कहा, 'देवराज ! इसके लिये आप संकोच क्यों कर रहे है। आज मेरे कितने आनन्द का दिन है ! इतने दिनों के पश्चात् आज मेरा जीवन सार्थक हुआ। मेरे वृद्ध शरीर की हड्डियां देवताओ के काम मे आयेंगी, उनसे जगत का कल्याण होगा, इसकी मुझे कभी स्वप्न मे भी आशा नहीं थी !'

महर्षि की बात सुन कर शिष्यों की आँखें सजल हो उठीं। महर्षि ने कहा, 'मेरे बच्चो ! आज मेरे सौभाग्य का दिन है। फिर तुम्हारी आंखों मे यह आँसू कैसे ? शरीर तो किसी का

सदा रहता नहीं ! इससे बढ़कर और क्या होगा, कि वह दूसरों के काम में लग रहा है ?

उसी समय सब एक साथ मिलकर उच्च स्वर से भगवान का नाम लेने लगे। और भगवान का नाम लेते ही लेते महर्षि अपने शरीर का त्याग कर दिया।

महर्षि के शरीर की हड्डियां ले जाकर देवराज ने उन्हें विश्वकर्मा के हाथ में दिया। उन्हीं हड्डियों से विश्वकर्मा ने जो अस्त्र बनाया, वही वज्र है। उसी वज्र से इन्द्र ने वृत्र को मार कर स्वर्ग पर पुनः अपनी सत्ता स्थापित की ! देवताओं के दुःख की काली रात बीती। संसार आत्मत्यागी महर्षि की हड्डियों की शक्ति को देख कर विस्मित हो उठा !

अनेक युग युगान्तर बीत गये, किन्तु आज भी वज्र अपने कड़-कड़ शब्दों द्वारा स्थावर और जङ्गम को विकम्पित करके त्रिभुवन के ऊपर आत्मत्यागी महर्षि दधीचि की त्याग-शक्ति को प्रकट कर जाता है !



# वचन का निर्वाह

कई सौ वर्ष पूर्व अरब में हज़रत उमर के प्रताप का डंका बज रहा था । बड़े न्यायशील थे, बड़े त्यागी। अरब वाले उन्हे अपना देवता मानते थे, मसीहा। बच्चे, बूढ़े, जवान सभी उनके संकेतो पर नाचने के लिये तैयार रहते, और करते उसमे अपने जीवन-महत्व का अनुभव। वे सबके प्राणो मे बस रहे थे, प्राणों मे ।

प्रभात का समय था। हज़रत उमर मक्का की मस्जिद मे बैठे थे। आस-पास सैनिक सरदार भी बैठे हुये थे। न्याय चाहने वाले द्वार पर खड़े थे, उमर बारी बारी से सबकी सुन कर सब को न्याय दे रहे थे। लोग प्रसन्न थे, आह्लादित थे। वादी और प्रतिवादी दोनों। ऐसा ज्ञात होता था, मानों हज़रत उमर न्याय के रूप मे इन्हे जो कुछ दे रहे थे, वह उनकी भी समझ में ठीक था, उचित था ।

उमर न्याय के कार्य मे संलग्न थे। सहसा उनका ध्यान भंग हुआ। उन्होने दृष्टि उठा कर सामने की ओर देखा, एक नव-युवक! वह हाथ बांधे हुये सिर झुका कर खड़ा था। और दो व्यक्ति उसे पकड़े हुये थे।

उमर ने तीनों व्यक्तियो को ध्यान से देखा, और फिर पूछा, 'कहो, क्या चाहते हो?'

उन दोनों व्यक्तियों ने उमर को सिर झुकाया, और बड़ी ह नम्रता के साथ उत्तर दिया, 'श्रीमान् हमारा न्याय कीजिये इस युवक ने हमारे पिता की हत्या कर दी है !'

उमर ने युवक को प्यार से देखा। वह सिर झुकाये खड़ा था। उमर ने उसकी ओर देखकर कहा, युवक ! सुनते हो, ये लोग क्या कह रहे हैं ?

युवक ने उत्तर दिया, 'सुनता हूँ श्रीमान ! ये लोग जो कह रहे हैं, वह सच है। मैंने सचमुच इनके पिता की हत्या की है, मैं सचमुच अपराधी हूँ !'

उमर ने पुनः युवक की ओर देखा। युवक अविचलित ढङ्ग से खड़ा था। उमर ने कहा, 'जानते हो इस सम्बन्ध मे मेरा न्याय। मृत्यु दण्ड। मैं तुम्हें भी हत्या करने के अपराध मे मृत्यु दण्ड दे रहा हूँ।

युवक ने मस्तक झुका लिया। कुछ देर तक वह मन ही मन सोचता रहा। फिर धीरे से बोल उठा,—श्रीमान् का आदेश आंखों पर है। किन्तु एक प्रार्थना है। क्या उसे श्रीमान् सुनेंगे ?

उमर ने युवक की ओर देखकर कहा, 'कहो ? पिता जी जब मरने लगे थे, तब कुछ सोना छोड़ गये थे। उनकी यह धरोहर मैंने भूमि के भीतर गाड़ रक्खी है। यदि तीन दिन की छुट्टी मिल जाती तो मैं वह सोना अपने भाई को सौंप कर पुनः यहां हाज़िर हो जाता !'

उमर ने युवक को आश्चर्य की दृष्टि से देखा। ऐसी असंभव प्रार्थना, फिर उसने की क्यों ? युवक साधारण नहीं ! वह मनुष्य है, सचमुच मनुष्य है। उमर कुछ देर सोचते रहे। फिर उन्होंने कहा, 'स्वीकार है तुम्हारी प्रार्थना युवक। किन्तु एक शर्त है।

कौन सी शर्त श्रीमान्।—युवक ने नम्रता से पूछा।

तुम्हें किसी की ज़मानत देनी होगी—उमर ने कहा।

युवक चुप हो गया। ज़मानत उसकी वहाँ कौन करेगा ? वहाँ तो उसका एक भी परिचित नहीं ! और फिर गिने आदमी की ज़मानत, जिसे मृत्यु दण्ड मिला हो ! युवक आँखें पसार कर चारों ओर इधर-उधर देखने लगा। उसकी दृष्टि एक वृद्ध मनुष्य पर पड़ी, जो उमर ही के समीप बैठे हुये थे। युवक ने उन्हीं की ओर देखकर कह दिया, 'यही महाशय, मेरी ज़मानत करेंगे।

उन वृद्ध का नाम था, अबूज़ेहल्ल। बड़े ही प्रतिष्ठित थे, बड़े ही दयालु थे। परोपकार ही उनके जीवन का कर्त्तव्य था। उमर भी उनकी प्रतिष्ठा करते थे, उन्हे एक आदरणीय व्यक्ति समझते थे। उमर ने अबूज़ेहल की ओर देखकर पूछा, 'क्या आप ज़ामिन हो रहे हैं ?

अबूज़ेहल्ल ने उत्तर दिया, 'मुझे कोई आपत्ति नहीं !'

युवक छोड़ दिया गया।

तीसरा दिन समाप्त हो रहा था। लोग मसजिद में पहुँचे और अपराधी का मार्ग देखने लगे। किन्तु अभी तक वह न आया, उमर ने अबूज़ेहल्ल की ओर देख कर कहा, अपराधी

का अब तक कहीं पता नहीं है। कहीं ऐसा न हो, कि उस बदले में आप ही को मृत्यु दण्ड दिया जाय !

अबूजोहल समाज के आदरणीय व्यक्ति थे। लोग उनका सम्मान करते थे, उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। अपराधी के न आने पर अबूजोहल को मृत्यु दण्ड होगा; यह सुन कर लोग व्याकुल हो उठे, घबड़ा गये। किन्तु अबूजोहल शांत थे उनकी आकृति में न भय था, न आकुलता थी ! उमर ने देखा दोनों फरयादी आ रहे हैं, किन्तु अपराधी का कहीं पता नहीं है

फरयादियों ने उमर के समीप पहुँच कर निवेदन किया 'अपराधी कहां है श्रीमान ! उसे बुलवा दीजिये !'

उमर ने अबूजोहल की ओर देखा। अबूजोहल ने कहा भाई ! कुछ देर तक और रुको। अभी दिन समाप्त नहीं हुआ यदि अपराधी न आया तो मेरा सिर तो उपस्थित ही है !

अबूजोहल की बात सुन कर लोग और भी अधिक चिंतित हो उठे। लोग फरियादियों से प्रार्थना करने लगे, 'भाई क्षमा कर दो; अबूजोहल को। यदि कहो तो इसके बदले में तुम्हें कुछ रुपया दे दिया जाय ! किंतु फरियादियों ने एक न सुनी। उन्होंने कहा, । नहीं, मुझे तो खून का बदला खून चाहिये !

अभी इस प्रकार की बाते हो रही थीं, कि युवक आ पहुँचा वह हाँफ रहा था, और पसीने से लथपथ था। उसने उमर के सामने पहुंच कर नम्रता से प्रणाम किया, और कहा, 'धन्यवाद है, ईश्वर ! जो मैं ठीक समय पर आ पहुँचा। मैं पिता की धरो

हर अपने भाई को सौंप आया, और उसके जीवन-निर्वाह के लिये भी प्रबन्ध कर दिया। मैं अब मरने के लिये तैयार हूं। मेरे ज़ामिन को मुक्त कर दीजिये। दण्ड दीजिये।

यह कह कर युवक अबूजेहल की ओर बढ़ा। उसने उनका हाथ चूमते हुये कहा, 'आपसे मेरा बिलकुल परिचय न था! किन्तु आप इतने कृपालु हैं, कि मेरे ज़ामिन बन गये, ईश्वर आपको इस नेकी का फल देगा!'

अबूजेहल ने लोगों की ओर देखकर कहा, 'सचमुच इस युवक से मेरा कभी का परिचय न था। किन्तु जब इतने मनुष्यों के बीच में इसने मुझ पर विश्वास किया, तो मैं इस पर कैसे अविश्वास कर सकता था? इसकी आकृति देख करके ही मैंने यह समझ लिया था, कि यह अपने वचन का निर्वाह करेगा!'

इसका फ़रियादियों के ऊपर कुछ ऐसा विचित्र प्रभाव पड़ा कि उन्होंने उमर से प्रार्थना करके युवक को क्षमा कर दिया। सचमुच वह क्षमा ही के योग्य था?



# न्याय

संध्या का समय था। दिल्ली के प्रधान विचारपति काज़ी नवाव मिर्ज़ा हामिउद्दीन नमाज समाप्त करने के पश्चात् अन्तःपुर में वैठकर हुक्का पी रहे थे। सोने की भांति चमचमाते हुये हुक्के से उनके मुख द्वारा जो धुवाँ उड़ रहा था, वह कस्तूरी से किसी भांति कम सुगन्धित नहीं था। आस पास की हवा को भी उसने सुगंधित वना दिया था. अधिक सुगन्धित !

सहसा द्वारपाल ने भीतर प्रवेश किया। उसने कहा, श्रीमान् ! मानिकचद नामक एक व्यक्ति आया है। आप से मिलना चाहता है।'

काज़ी साहव ने आंखें खोल कर पूछा, 'क्या नाम तुमने वताया ?''

'मानिक चंद जी !'

'उसने अपने परिचय में और भी कुछ कहा ?'

'परिचय तो उसने कुछ दिया नहीं। कहा, वह वहुत दुखी है। उसके साथ अधिक अत्याचार हुआ है। आप धर्मावतार हैं। आपको वह अपनी कष्ट-कहानियां सुनायेगा।'

'फिर यहां किस लिये ? उससे कहो, अदालत में जाकर पेशकार के पास दरख्वास्त दे।'

द्वारपाल ने विनम्रता प्रकट करते हुये कहा, 'श्रीमान्, उसने कहा है कि वह जो कुछ कहेगा, वह बहुत ही गोपनीय है। वह श्रीमान् के अतिरिक्त और किसी दूसरे व्यक्ति पर उस बात को प्रकट करना नहीं चाहता। बहुत ही रो रहा है। उसके ऊपर अधिक अत्याचार हुआ है।'

काज़ी साहब ने कुछ देर तक सोचने के पश्चात कहा, अच्छा उसे बाहर के कमरे में बैठाओ। कुछ देर में मैं वहीं आ रहा हूँ।

द्वारपाल प्रणाम करके चला आया।

काज़ी साहब कुछ देर तक आनन्द से हुक्का पीते रहे। तत्पश्चात उठे, और धीरे धीरे चल कर बाहर के कमरे में पहुँचे।

मानिकचंद बैठा हुआ था। उसने उठ कर काज़ी साहब को प्रणाम किया। "बैठो बैठो"—कह कर काज़ी साहब स्वयं भी बैठ गये।

काज़ी साहब ने उस व्यक्ति को देखा। उसकी अवस्था रही होगी, लगभग पचास वर्ष के। सूरत-शकल से अच्छा, आकृति से दीनता टपक रही थी। काज़ी साहब ने पूछा, 'आप क्या चाहते है?'

मानिकचंद ने उत्तर दिया, "मै न्याय चाहता हूँ श्रीमान्! मुझ पर अधिक अत्याचार हुआ है!"

"क्या हुआ है, साफ साफ कहिये!"

मानिकचन्द ने अपनी कहानी कहनी आरम्भ की:—

"श्रीमान् मैं तीन-चार पुश्त से दिल्ली नगर में रह रहा हूं। मेरे पूर्वज चीनी का व्यापार करते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् मै उसका मालिक हुआ। कारण, कि मैं ही अपने पिता की एक मात्र सन्तान हूं। काम-काज चलने लगा। विवाह करके सांसारिक धर्म में भी संलग्न हो गया। आनन्द में कई वर्ष बीत गये। काम-काज की देख भाल मै अधिक नहीं करता था। बाल्यावस्था से ही धर्म की ओर मेरा अधिक आकर्षण था। रुपये-पैसे का हिसाब-किताब भी मैं बहुत कम करता था। कुछ पुराने कर्मचारी थे। वही सब काम-काज देखते-भालते थे। मैं उन्हीं के ऊपर समस्त भार छोड़कर निश्चिन्त मन से ईश्वर की पूजा-आराधना किया करता था। कुछ दिनों के पश्चात् मुझे मालूम हुआ कि कर्मचारी विश्वासघात कर रहे हैं, सब लूट-पाट करके स्वयं ही खा रहे हैं। मैंने सोचा, खाओ। मैं खा रहा हूँ, फिर वे सब क्यों न खायें? मैं बैठ कर खाता हूँ, वे सब काम करके खा रहे हैं। मैं चुप रहा और इसी प्रकार चलता गया। श्रीमान् को याद होगा, पांच वर्ष हुये दिल्ली में हैजे का अत्यन्त प्रकोप हुआ था। सहस्रों मनुष्य उसके शिकार होगये; ईश्वर की इच्छा! उन्होंने मेरी स्त्री, पुत्र और कन्या को भी अपने पास बुला लिया। सब एक एक करके मुझे अकेला छोड़कर चले गये।'

इतना कह कर मानिकचंद दोनों हाथों से आंखों को बंद करके रोने लगा।

क़ाजी साहब ने कहा, चुप रहो भाई, चुप रहो। ईश्वर ने जो कुछ किया है, शोक के द्वारा उसका प्रतिवाद करना तुम्हें उचित नहीं। शांत रहो और धीरज धरो।'

कुछ देर के पश्चात् मानिकचन्द ने अपने को सँभाला।

क़ाजी साहब ने कहा, किन्तु तुम्हारे ऊपर अत्याचार क्या हुआ है?

मानिकचन्द पुनः कहने लगा —

"स्त्री, पुत्र और कन्या की मृत्यु के पश्चात कुछ दिनों तक मैं पागलों की भाँति घूमता रहा। अन्त मे मैंने सोचा, ईश्वर की इच्छा नहीं थी, कि मैं सांसारिक-बन्धनो मे जकड़ा रहूँ। इसीलिये एक-एक करके उन्होंने सभी बन्धन काट दिये। अब सांसारिक ममता की ओर न आकृष्ट हूँगा। जीवन के शेष भाग ईश्वर की पूजा-आराधना मे बिता दूँगा। यह सोचकर मैंने दूकान बेच दी। घर की अनेक वस्तुओं को भी बेंच दिया। इससे एक लाख से भी अधिक रुपये मिले। सोचा, कुछ दिनो तक तीर्थों में परिभ्रमण करने के पश्चात् आऊँगा, और एक देव-मन्दिर की स्थापना करके पूजा आराधना में अपना समय बिताऊँगा। फिर सोचने लगा, इतने रुपये को रक्खूं कहाँ? दिल्ली मे मेरे एक धनी बन्धु हैं। विद्वान् भी अधिक हैं। नाम है, उनका भवानीशङ्कर।"

क़ाजी साहब बीच ही में बोल उठे, 'कौन भवानीशङ्कर? जो चाँदनी चौक मे रहते हैं।"

"हाँ, वही भवानी शङ्कर। चाँदनी चौक मे उनका बहुत ब
मकान है।"

क़ाज़ी साहब ने कहा, "ठीक ! मै उनसे परिचित हूँ।"

मानिकचन्द ने कहा, 'भवानीशंकर मेरे बाल-सहचर
हम दोनो की लिखाई-पढ़ाई एक ही पाठशाला मे हुई है।
सोचा, भवानीशङ्कर के पास एक लाख रुपया रख दूँ। लौ
कर फिर उनसे ले लूँगा।' यह सोचकर मै उनके पास गय
और उन्हे सब बता कर मैंने उनके पास एक लाख रुप
जमा कर दिया।"

क़ाज़ी साहब ने पूछा, "रसीद ले ली थी ?"

मानिकचन्द ने कहा, 'मै उन्हें अपना बाल साथी समझ
था। उनसे रसीद माँगते हुये मेरे मन को संकोच हुआ
उन्होंने स्वयं ही कहा था, रसीद लेकर क्या करोगे ? मैं वह
खाते में जमा करा देता हूँ। मैंने भी लज्जा वश कह दिय
हाँ रसीद लेकर क्या करूंगा ? स्थान-स्थान में घूमूँगा। कै
जाने, रसीद कहीं खो जाय !

क़ाज़ी साहब ने पूछा, "फिर क्या हुआ ?"

"इसके पश्चात् मैं बचे हुये रुपये को लेकर तीर्थ-या
करने के लिये निकला। तीन वर्ष तक तीर्थों मे परिभ्रम
करने के पश्चात् एक सप्ताह हुये दिल्ली वापस आया हूँ। रा
जानकी का मन्दिर बनवाने के लिये जमुना के किनार एक स्थ
ठीक करके मै कल रुपया लेने के लिये गया। किन्तु क़ाज़ी सा

क्या कहूँ, भवानीशंकर ने बिल्कुल अस्वीकार कर दिया। उन्होंने कहा, कहीं तुम पागल तो नहीं हो गये हो, जो ऐसी बात कह रहे हो। मुझे दुतकार दिया। क़ाजी साहब यदि आप दया न करेंगे तो मेरा उद्धार न होगा, मेरे रुपये न मिलेंगे!"

क़ाजी साहब ने पूछा, 'अच्छा रसीद नहीं ली न सही। रुपया जमा करने के समय वहाँ कोई उपस्थित था?'

"कोई नहीं था। केवल मैं और वह!"

"फिर बताइये साहब, मैं क्या कर सकता हूँ? न रसीद, न गवाह। किस प्रकार मैं आपका रुपया दिला सकता हूँ!"

मानिकचन्द ने कहा, "फिर क्या दिल्ली नगर में श्रीमान् के न्याय के रहते हुये ग़रीब के ऊपर अत्याचार होगा! कोई उपाय कीजिये धर्मावतार!"

काजी साहब ने अनुचर को बुला कर कहा, "चिलम बदल दो। फिर उन्होने कहा, 'अच्छा मैं सोचूँगा। कल संध्या समय तुम फिर आकर मुझसे मिलो! सावधान! मेरे पास आकर तुमने मुझे ये सब बातें सुनाई हैं, यह किसी को ज्ञात न होने पावे। जाओ, इस समय जाओ।"

मानिकचन्द काजी साहब को नम्रतापूर्वक प्रणाम करके चला गया।

काजी साहब हुक्के की निगाली मुँह में लेकर सोचने लगे। कुछ देर के पश्चात अपने ही आप बोल उठे, "ठीक होगया, बस ठीक होगया।"

दूसरे दिन संध्या समय मानिकचन्द पुनः आकर उपस्थि हुआ। क़ाजी साहब ने पूछा, "आज कौन सा दिन है?"

"आज मंगलवार है श्रीमान्!"

"परसों बृहस्पतिवार के सायंकाल तुम पुनः भवानीशंकर के पास जाओ और उनसे अपना रुपया माँगो। यदि वह फिर अस्वीकार करे तो कहना कि मैं दिल्ली के प्रधान विचारपति, क़ाजी साहब के दरबार में तुम पर नालिश करूँगा। कल शुक्रवार को अदालत बन्द है। परसों शनिवार को मैं निश्चय ही तुम्हारे ऊपर नालिश कर दूँगा।'—यह कहकर तुम अपने घर लौट आना!"

जो आज्ञा श्रीमान्!—यह कहकर मानिकचन्द अपने घर चला गया।

दूसरे दिन क़ाजी साहब ने मुन्शी भवानीशंकर को निम्न-आशय का एक पत्र लिखा:—

"भाई!

बहुत दिन हुये, आपके दर्शन न हुये। आज संध्या समय यदि मेरे घर पधारें, तो बड़ी कृपा हो। आवश्यक बातें करनी हैं।"

पत्र पाकर भवानीशंकर बड़ी चिन्ता में पड़ गये। सहसा क़ाजी साहब इस प्रकार क्यों बुला रहे हैं? क्या मानिकचन्द ने जाकर मेरी कुछ शिकायत कर दी है! कहीं उन्होंने उसका

रुपया लौटालने के लिये अनुरोध प्रगट करने के लिये तो नहीं बुलाया है !

संध्या होते ही भवानीशंकर क़ाज़ी साहब के पास जा पहुँचे। क़ाज़ी साहब अत्यन्त प्रेम-भाव से बातचीत करने लगे। अंत मे उन्होने कहा, 'देख रहे हैं न बाबू साहब, नगर में किस प्रकार जाल-फरेब और धोखेबाज़ी का बाज़ार गरम है।'

भवानीशंकर—हाँ साहब, देख तो रहा हूँ। धर्म कर्म रसातल मे चला गया है। पाप की अधिक वृद्धि हो चली है।"

क़ाजी—मामिले-मुक़द्दमें इतने बढ़ गये हैं कि काम करते-करने मेरे प्राण निकले जा रहे है ! अभी उस दिन मुझे बादशाह के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैंने उन्हे भी ये सभी बातें बताईं। उन्होने सुन कर कहा, अपने दो सहायक रख लीजिये क़ाज़ी साहब ! इससे आपको परिश्रम कम करना पड़ेगा और मुक़दमे का फैसला भी शीघ्र होगा। इन दोनों योग्य व्यक्तियों के चुनाव का भार मैंने आप ही के ऊपर छोड़ दिया। आप इस तरह के दो व्यक्तियो को चुनें जो विद्वान हों, धार्मिक हों. और जिन पर शत्रु-द्वारा कभी किसी प्रकार का कोई कलंक न आरोपित किया गया हो। राज्य-कोप से उन्हे अच्छा वेतन भी मिलेगा। बादशाह ने मुझसे यह भी कहा था कि इन दो व्यक्तियों मे एक हिन्दू हो, दूसरा मुसलमान। भवानी-शंकर जी, मेरी दृष्टि मे तो दिल्ली में आप से बढ़कर योग्य हिन्दू कौन मिलेगा ? आप विद्वान हैं, धार्मिक हैं, ज्ञानी हैं। आप

इस पद को स्वीकार करलें। मुसलमान की खोज में कर लूँगा। सोमवार को बादशाह ने मुझे फिर बुलाया है। उसी दिन आपको आदेश-पत्र प्राप्त हो जायगा।"

दिल्ली नगर के क़ाजी के सहायक का पद! वेतन का वेतन और रोब का रोब! सारा दिल्ली नगर मस्तक झुकायेगा। भवानीशङ्कर ने क़ाजी साहब को धन्यवाद देकर अपनी स्वीकृति दे दी।

वृहस्पतिवार के सन्ध्या समय मानिकचन्द पुनः भवानी शंकर के द्वार पर गया। रुपया मांगने पर भवानीशंकर ने फिर उसे दुतकार दिया, और वह शनिवार को नालिश करने की धमकी देकर अपने घर चला गया।

मानिकचन्द धमकी देकर चला गया। भवानी शंकर को अब जैसे ज्ञान सा हुआ! वह सोचने लगा, 'हाय मैंने यह क्या किया? शनिवार को यदि यह दुष्ट क़ाजी साहब की अदालत मे मेरे ऊपर नालिस कर देगा, तो इसमें सन्देह नहीं कि क़ाजी साहब के मन में मेरे प्रति सन्देह उत्पन्न हो जायगा। ऐसा होने से यह हो सकता है कि मैं सहायक क़ाजी के पद से वञ्चित रह जाऊँ। इससे अच्छा तो यही है कि मानिकचन्द के एक लाख रुपये का लोभ छोड़ दूं। कहाँ सहायक क़ाजी का पद, और कहां एक लाख रुपया। उस पद को प्राप्त करके न जाने कितने लाख रुपये पैदा करूंगा!'

दूसरे दिन सवेरा होते ही भवानीशंकर ने नौकर भेज कर मानिकचन्द को बुलवाया और कहा, भाई मैं देख रहा हूँ, तुम मुझ पर अधिक अप्रसन्न हो। मै तो तुम्हारे साथ हँसी कर रहा था। ले जाओ, अपने लाख रुपये।

मानिकचन्द रुपया लेकर अपने घर चला गया।

सोमवार के सन्ध्या समय भवानीशंकर ने क़ाजी साहब के पास जाकर पूछा, 'बादशाह ने आदेश-पत्र जारी किया या नही ? मुझे कबसे इजलास करना होगा ?'

क़ाजी साहब ने दुखी होकर कहा, 'बादशाह ने स्वीकृति नहीं दी। बादशाह ने कहा, देश मे अकाल पड़ा है। प्रजा भूख से मर रही है। उसके लिये भोजन का प्रबन्ध करने ही मे कोष समाप्त हो जायगा। फिर नये कर्मचारियों को वेतन कहाँ से मिलेगा ? इसलिये अभी कोई नया कर्मचारी न नियुक्त किया जाय।'



# युवक का साहस

कोरिया पर जापानियों का राज्य था। गुलामी की वेदना देश के हृदय को मथ रही थी, प्राण प्राण में आकुलता उत्पन्न कर रही थी। लोग उससे मुक्ति पाना चाहते थे, दासता की बेड़ियों को तोड़ कर स्वतन्त्र होना चाहते थे। इसके लिये चल रहा था, उनका प्रयत्न। किन्तु जापानी उनके प्रयत्न को तोड़ रहे थे, उनके साहस को ढीला बना रहे थे।

कोरिया में एक नगर है, सीउल। एक दिन इसी नगर के एक ऊँचे मकान के भीतर कमरे में बैठ कर एक युवक पुस्तक पढ़ रहा था। युवक का नाम था, कुरोट, और पुस्तक का नाम था, 'कोरिया की करुण-कथा' पुस्तक ज़ब्त थी। जापान की सरकार उस पुस्तक मे लिखी हुई कोरिया के देश-भक्तों की करुण कहानियाँ भी कोरिया वालों को नहीं पढ़ने दे रही थी। दासता ऐसी ही होती है।

किन्तु कुरोट उस पुस्तक को पढ़ रहा था। वह पुस्तक पढ़ता जाता था, और सशंकित चित्त से बाहर की ओर देखता जाता था। उसे अपने पिता से भय था। उसके पिता सरकारी सेना मे एक बहुत बड़े अफ़सर थे। उन्हें सरकार की सेवा अभीष्ट थी। किन्तु युवक कुरोट को यह बिलकुल अच्छा न

लगता। उसके हृदय मे देश का प्रेम था, मातृभूमि की भक्ति थी। देश और मातृभूमि के ऊपर प्राणों को उत्सर्ग करने वालों को वह अपने जीवन से भी अधिक प्यार करता था। वह अपने पिता से छिप कर उन्हीं के साथ रहता और उन्हीं के साथ मिल कर देश की सेवा भी किया करता था।

युवक पुस्तक पढ़ने मे संलग्न था। सहसा उसके पिता, नोरो, उसके कमरे में आ गये। उन्होने देखा, 'कुरोट पढ़ रहा है, कोरिया की करुण कथा। नोरो की आंखों से चिनगारियां-सी निकलने लगीं। वह गरज कर कुरोट पर टूट पड़ा। पुस्तक छीन कर दूर फेक दी। उसे डाँटने फटकारने लगा। इतने से भी जब सन्तोष न हुआ, तब उस पर प्रहार भी किया।

किन्तु कुरोट अपनी देश-भक्ति से विचलित न हुआ। वह बराबर देश की सेवा करता गया, मातृभूमि के उद्धार के गीत गाता रहा।

वह एक दिन था, पहली मार्च का। देश के नेताओं ने निश्चय किया था, कि पहली मार्च को जुलूस निकलेगा और झण्डा फहराया जायगा। देश-भक्तो का यह निश्चय सरकार को अधिक बुरा मालूम हुआ। सरकार ने उस पर प्रतिबंध लगाते हुये घोषणा कर दी, जो जुलूस मे सम्मिलित होगा, उसका सिर धड़ से अलग कर दिया जायगा।

किन्तु क्या जुलूस रुका? नहीं; ऐसा जुलूस भी क्या कहीं रुकता है? देश-भक्त भीतर ही भीतर प्रयत्न करने लगे। सर-

कार भी अपनी आज्ञा का पालन कराने के लिये तत्पर हो उठी। जुलूस जब निकलता, तब भला कुरोट उसमें सम्मिलित होने से कब बाज़ रहता ? इसी आशंका से नौरों ने कुरोट को एक कमरे में रस्सी से कस कर बाँध दिया।

सन्ध्या का समय था। पहली मार्च को ठीक समय पर देश-भक्तों का जुलूस निकला। सब के हाथ में देश का एक एक झण्डा था, और सब कर रहे थे, कोरिया की जय जयकार। जुलूस अभी कुछ आगे बढ़ा ही था कि सरकारी सेना भी अपना कार्य करने के लिये सामने आ डटी।

कुरोट के कानों में भी जय जयकार की ध्वनि पड़ी। उसकी आत्मा विकल हो उठी, प्राणों में हलचल मच गई। अन्तर अन्तर में एक भयानक तूफान, रग रग में एक बिजली। वह दाँतो से रस्सी काट कर मुक्त हो गया, और किसी प्रकार कमरे से निकल कर जुलूस में जा पहुँचा। उसके हाथ में भी कोरिया का झण्डा था।

सेना जुलूस को रोक रही थी। किन्तु जुलूस जय जयकार के साथ कर रहा था, आगे बढ़ने का प्रयत्न। सेना ने गोलियां बरसानी आरम्भ कर दी। देशभक्त हाथ में झण्डे लिये हुये पृथ्वी पर गिरने लगे, मातृभूमि को चूमने लगे। थोड़ी ही देर में भूमि पर लाशों का ढेर लग गया।

सिपाही दौड़-दौड़ कर लोगों के हाथ से झण्डे छीन रहे थे। एक सिपाही ने कुरोट को भी जा पकड़ा।

उसके भी हाथ मे देश का झण्डा था । सिपाही ने गरज कर कहा. 'झण्डा फेंकदो ।'

यह नही हो सकता, कुरोट ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया–झण्डा तो मेरी नाक है ।

सिपाही ने तलवार उठाई, और एक ही झटके मे कुरोट की नाक काट ली, और फिर कहा, 'अब ! बोलो, अब झण्डा फेंकते हो, या नहीं !'

कुरोट रक्त मे सना हुआ था । उसने उत्तर दिया, 'नहीं अब भी नहीं । झण्डा तो मेरा हाथ-पैर है ।'

सिपाही की तलवार फिर उठी । थोड़ी देर के पश्चात् कुरोट के हाथ-पैर भी गायब थे । अब कुरोट ने झण्डे को दाँतो से पकड़ लिया था । सिपाही ने कुरोट के हाथ पैरो को काट कर पूछा, 'अब बोलो ? अब तो हाथ-पैर भी न रहे । झण्डा फेकते हो या नहीं ।'

कुरोट ने दृढ़ता के स्वर मे उत्तर दिया 'नहीं, कदापि नहीं । झण्डा मेरा प्राण है । जब तक शरीर मे प्राण है, मै झण्डे को न छोड़ूँगा, न छोड़ूँगा ।'

सिपाही की तलवार फिर उठी, और इस बार उसने कुरोट के सिर ही को काट डाला । कुरोट का सिर भूमि पर गिर कर तड़पने लगा । किन्तु अब भी उसके दाँतो मे देश का झण्डा था । मानों अब भी वह सिपाही को ललकार रहा हो !

कुरोट का बाप नोरो भी वहीं उपस्थित था। वह सरकारी सेना का एक बड़ा अफसर था। वह कुछ दूर पर खड़ा होकर अपने लड़के का वीरता-पूर्वक बलिदान देख रहा था। जब कुरोट का सिर भूमि पर गिर पड़ा, तब उससे न रहा गया। उसकी आँखें खुल गईं। उसने उसी सैनिक वेश में दौड़ कर कोरिया के झण्डे को अपने हाथ में ले लिया, और कहा, 'अब इस झण्डे का रक्षक मैं हूँ!'

सिपाही चकित हो उठा। कुछ देर तक चुप रहा। फिर कहने लगा, 'छोड़ दीजिये इस झण्डे को। नहीं तो, आपके साथ भी मुझे ऐसा ही व्यवहार करना पड़ेगा।'

नोरो ने गर्व से छाती फुलाकर उत्तर दिया, यह नहीं हो सकता। झण्डे के लिये मेरा भी सिर समर्पित है।

थोड़ी ही देर के पश्चात् लोगों ने देखा कि नोरो का भी सिर भूमि पर पड़ा छटपटा रहा है।

धन्य थे वे पिता-पुत्र!



# अन्धा राजकुमार

वह राजकुमार था, पतापी अशोक का, उनके जीवन-साम्राज्य का। नाम था, कुणाल। अशोक उसका अधिक सम्मान करते, उसे अपने अन्तर में छिपा कर रखते। वह था भी इसी के योग्य। गुण में, सुन्दरता मे, मानवता में अद्वितीय था, बेजोड़ था। पिता की बात बात पर, आज्ञा आज्ञा पर, प्राणों को उत्सर्ग करने के लिये तैयार रहता था। कंठ इतना मधुर था, कि जब गाने लगता, तब मानों अमृत का सावन सा बरसने लगता। कंठ मे माधुर्य, आँखों में सौन्दर्य! जो देखता वह रीझ जाता, और कह उठता, 'कुणाल मनुष्य रूप में देवता है, देवता।

उसकी स्त्री कंचना भी ऐसी ही थी। सुन्दरी, गुणवत्ती और रूपवती। दोनों की समान जोड़ी थी, अद्वितीय। अशोक प्रतिक्षण इस जोड़ी पर अपने जीवन को लुटाया करते थे। उनके जीवन का सारा सुख सारा आनन्द, इसी जोड़ी पर निछावर था। यह जोड़ी उनके जीवन की निधि थी, महानिधि!!

अशोक इस जोड़ी को देख कर निहाल होते, अपने जीवन को धन्य समझते। किन्तु तिष्यरक्षिता उन्हे देख कर भीतर ही भीतर जला करती थी, ईर्षा की अग्नि में, डाह की ज्वाला में।

वह अशोक की स्त्री थी, कुणाल की विमाता। वह कुणाल से जलती थी, किन्तु कुणाल के मन मे उसके प्रति भक्ति थी, श्रद्धा थी। वह अपने पिता के समान ही उसे भी सम्मान की दृष्टि से देखता था, उसका भी आदर किया करता था।

कुणाल की सौन्दर्यमयी आँखें! तिष्यरक्षिता कभी छुप कर जब उन आँखों की ओर देखती, तब उसके हृदय से एक आह सी निकल पड़ती। वह सोचने लगती, यदि कुणाल का प्रेम मिलता, तो जीवन कितना धन्य हो उठता! उसके हृदय में एक ज्वाला सी जला करती थी, एक आग सी उठा करती थी।

आखिर तिष्यरक्षिता से न रहा गया। एक दिन उसने कुणाल को अपने भवन में बुलाया। कुणाल ने तिष्यरक्षिता को प्रणाम करते हुये कहा, 'आज्ञा दीजिये माता जी!'

तिष्यरक्षिता ने आँखों मे एक विचित्र भावना भर कर कुणाल की ओर देखा। कुणाल की आत्मा तक काँप उठी। तिष्यरक्षिता कुछ देर तक कुणाल की ओर देखती रही, और फिर ललचाई हुई दृष्टि से बोल उठी, 'माता नहीं कुणाल, कुछ और!'

कुणाल आश्चर्य-चकित होकर तिष्यरक्षिता की ओर देखने लगा! उसकी समझ ही में न आया कि तिष्यरक्षिता क्या कह रही है! वह किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर उसकी गति-विधि देखने लगा। तिष्यरक्षिता फिर बोल उठी, 'चुप क्यों हो कुणाल! कहो, उसी सुधा सिंचित स्वर में एक बार कहो, प्यारी तिष्य-

रक्षिता। तुम्हारे मुख से यह सुनने के लिये कब से मेरे प्राण व्याकुल हो रहे हैं, कब से मेरा हृदय तड़प रहा है !'

कुणाल दो कदम पीछे हट गया, और सिर झुका कर बोल उठा, 'माता जी, माता जी !! आज आपको क्या हो गया है ! आज आप यह क्या कह रही हैं ! एक पुत्र से इस प्रकार की बात-चीत ! नीचे भूमि है, ऊपर आकाश, फट पड़ेगा, माता जी, फट पड़ेगा !"

फटने दो कुणाल !—तिष्यरक्षिता ने हाथ बढ़ाते हुये कहा—तुम चिन्ता मत करो। आओ मेरे हृदय से लग कर मेरे हृदय की आग बुझाओ।

कुणाल पीछे हट गया। उसके अन्तर का कोना कोना तक कम्पित हो उठा। उसने आँखों मे रोष भर कर कहा, "लज्जा कीजिये माता जी, लज्जा कीजिये ! धरणी काँप उठेगी, आकाश गरज पड़ेगा, और संसार की धुरी तक हिल जायगी, हिल जायगी !"

कुणाल राज-भवन से चलता बना। तिष्यरक्षिता ने आहत सर्पिणी की भाँति फुफकार कर कहा, "सोच लो कुणाल, सोच लो !! जानते हो इसका क्या परिणाम होगा ? आज मैं तुम्हारी जिन आँखों पर लट्टू हूँ, उनको पैरों के नीचे कुचल दूँगी, मल दूँगी !"

कुणाल ने रुक कर कहा, 'चिन्ता की बात नहीं माँ!

एक माता का उपहार समझ कर कुणाल उसका स्वागत करेगा उसे सिर आँखों से लगायेगा !"

कुणाल राज-भवन के बाहर निकल गया, और तिष्यरक्षित फुफकार मारती ही रह गई।

अब तिष्यरक्षिता हो गई, कुणाल का शत्रु। वह चाहती थी कुणाल का सर्वनाश हो, शीघ्र से शीघ्र सर्वनाश हो। वह इसके लिये प्रयत्न भी करने लगी और रहने लगी, अवसर की प्रतीक्षा में।

तिष्यरक्षिता सम्राट अशोक का प्राण, उनका हृदय। वे उससे राज-काज में भी सहायता लेते थे। एक दिन अशोक के पास तक्षशिला के राज्य-अधिकारी का एक पत्र आया। उसमें लिखा था, "तक्षशिला की सीमा पर शत्रु उपद्रव मचा रहे हैं। शीघ्र सहायता भेजिये !"

अशोक ने वह पत्र तिष्यरक्षिता को दिखलाया। तिष्यरक्षित मन ही मन कुछ देर तक सोचती रही। उसने सोचा, कुणाल को दण्डित करने का यह अच्छा अवसर है। फिर वह बोल उठी महाराज ! क्या आप मेरी बात मनेंगे ?

'क्यों नहीं तिष्यरक्षिता !—अशोक ने उत्तर दिया—तुम्हारी बात क्या मैंने कभी नहीं मानी है ?

"अच्छा तो महाराज।—तिष्यरक्षिता ने कहा—आप कुणाल को तक्षशिला भेज दीजिये। कुणाल सयाना हो गया है। वह

जा कर वह राज्य-संचालन का कार्य सीखेगा, और उसका अनुभव भी बढ़ेगा।"

महाराज अशोक को भी तिष्यरक्षिता की यह राय पसन्द आ गई। उन्होंने कुणाल को बुला कर तक्षशिला जाने की आज्ञा दे दी। कुणाल दूसरे ही दिन अपनी स्त्री कचना के साथ तक्षशिला चला गया। वहाँ जाकर उसने उपद्रवों को दबाया, चारों ओर सुख और शान्ति स्थापित की। सब कुणाल को धन्य-धन्य कहने लगे, उसे अपने जीवन का नेता समझने लगे।

पर इधर तिष्यरक्षिता के हृदय में ईर्षा की आग जलती रही। वह बराबर कुणाल के सर्वनाश का उपाय सोचती रही। तिष्यरक्षिता अशोक के हृदय में निवास करती थी। राज्य-संचालन में भी बहुत कुछ उसी का रुख देखा जाता था। राज्य के बहुत कुछ कागज-पत्र और मुहरें उसी के भवन में रहती थीं। वह उनका मनमाना उपयोग भी किया करती थी।

एक दिन तिष्यरक्षिता ने एक कर्मचारी को बुला कर उसे एक पत्र दिया, और कहा, 'इसे शीघ्र तक्षशिला के राज्य-नायक के पास ले जाओ।'

वह राज्य की ओर से एक आदेश पत्र था। उसमें लिखा था, कुणाल राज्य का बहुत बड़ा अपराधी है। उसकी आंखें निकाल कर शीघ्र से शीघ्र यहां भेज दो।' आदेश-पत्र पर सम्राट के हस्ताक्षर की मुहर भी लगी हुई थी। कर्मचारी आदेश-पत्र को

लेकर तक्षशिला चल पड़ा। महाराज अशोक को इसका बिल्कु
पता तक न था।

तक्षशिला का राज्यनायक। उसके पैरों के तले की पृ
खिसक गई। सम्राट अशोक की ओर से राजकुमार कुणाल क
आंखे निकलवाने की आज्ञा। किन्तु इस आज्ञा का पालन कैं
हो सकता है? किसमे साहस है, जो कुणाल ऐसे देवता सरीखे
मनुष्य की आंखे निकाले! पर सम्राट की आज्ञा! राज्य-नाय
चिन्तित हो उठा।

वह आदेश-पत्र लेकर राजकुमार कुणाल के पास गया
कुणाल ने उस आदेश पत्र को देख कर सब कुछ जान लिया
किन्तु वह चुप रहा। उसने उस आदेश पत्र के सम्मुख सि
झुका कर कहा, "नायक जी! चिन्तित न होइये। अपने कर्तव्
का पालन कीजिये। यह सम्राट का आदेश है। सम्राट के आदे
का पालन करना आपका कर्त्तव्य है।"

सम्राट का आदेश था ही! राज्य-नायक विवश हो उठा
उसने वधिक बुला कर कुणाल की आंखें निकलवा लीं।

अपने राज-भवन में कुणाल रक्त से लथ-पथ, आंखों से
शून्य!! कंचना आकुल हो कर गिर पड़ी। लगी बिलख-बिलख
कर रोने। कुणाल ने उसे समझाते हुये कहा, 'न रोओ कंचना!
ईश्वर की जो इच्छा होती है, वही होता है। चलो, हम दोनों
अब अपने भाग्य पर संसार मे निकलें, भटक-भटक कर सुख
और शान्ति की खोज करे।'

कुछ ही देर के पश्चात् दोनों राज-भवन े छोड़ कर पथ पर चल रहे थे। बिलकुल भिखारी की तरह, क ों की भांति गली गली वीणा बजाते और गाते फिरते थे। जो कुछ मिल जाता, उसी से अपना पेट पालते, अपने जीवन का निर्वाह करते !!

यही उनके जीवन का क्रम था, यही उनके जीवन का आधार था। कुछ वर्षों तक यही चलता रहा। अन्त में एक दिन भटकते-भटकते अशोक की राजधानी पटना मे जा पहुँचे। घूमते-घामते राज भवन के पास से होते हुये राजकीय अस्तबल के पास गये। संध्या निकट थी, सूर्य अस्त होते जा रहे थे। कंचना ने हाथ जोड़कर अस्तबल के पहरेदार से कहा, "क्या रात भर मुझे यहाँ ठहरने की आज्ञा देंगे ?"

पहरेदार ने पहले तो झिड़क दिया, किन्तु जब दोनों अधिक प्रार्थना करने लगे, तब पहरेदार ने थोड़ी सी जगह अस्तबल के एक कोने में दे दी।

आधी रात बीत चली थी। कुणाल के पास सितार देखकर पहरेदार ने कहा, 'सूरदास क्या कुछ गाना भी गाते हो ?'

'कुछ गा लेता हूं भाई !--कुणाल ने उत्तर दिया।

अच्छा एक भजन सुनाओ तो—पहरेदार ने कहा।

कुणाल ने सितार उठाया। तारो पर उँगुलियाँ दौड़ने लगी, और उन्हीं के साथ स्वर छिटककर चारों ओर गूँज गया—नाथ ! अब कब सुधि लैहौं !' रात की निस्तब्धता में स्वर

गूंजता हुआ राजभवन में भी जा पहुँचा। सोये हुये सम्र
अशोक उठकर बैठ गये। सोचने लगे, "किसका स्वर है? अंत
अन्तर को वेधता जा रहा है।"

अशोक से न रहा गया। वे वाहर निकले और स्वर
सहारे चल पड़े, अस्तवल की ओर। अस्तवल में पहुँच क
उन्होंने देखा, एक क्षीण प्रकाश है। उसी की छाया में एक स्
एक पुरुष के साथ बैठी हुई है। स्त्री पुरुष का मुख देख रही है
और पुरुष वीणा के तारों को झनझनाता हुआ सोते हुये संसा
को पागल बना रहा है!

सम्राट अशोक अभी वहाँ पहुँचे ही थे, कि स्त्री दौड़क
उनके चरणों पर गिर पड़ी। स्त्री कौन थी? वही कंचना। उस
अशोक के चरणों से लिपट कर कहा, 'पिता जी, पिता ज
कौन अपराध किया था हम दोनों ने! हाय, आपने हम दो
की यह दुर्गति की!'

अशोक ने उस स्त्री को ध्यान से देखा।

और फिर उनके मुख से सहसा निकल पड़ा, 'कौन बेटी कंच
और तुम कौन,? बेटा कुणाल!'

कुणाल ने सितार अलग रख दिया। उसने भी सम्र
अशोक के चरणों पर गिरते हुये कहा, 'हां महाराज, मैं
आपका कुणाल!'

अशोक आश्चर्य-चकित हो उठे। उन्होंने दोनों को प्रेम

उठाते हुये कहा, कहो बेटा किसने तुम्हारी यह दुर्गति की? किसने तुम्हें इस अवस्था को पहुँचाया ?

आपही ने तो महाराज !'—कुणाल ने उत्तर दिया,–'आपही ने तो तक्षशिला के राज्यनायक को यह आदेश दिया था, कि मेरी आंखे निकाल ली जायँ।'

अशोक आश्चर्य में पड़ गये। उनके लिए यह एक रहस्य था, एक पहेली थी। वे इस पहेली का दूसरे दिन पता लगाने लगे। अन्त मे उन्हे सब कुछ मालूम हो गया, और तिष्यरक्षिता नाचने लगी अपराधिनी के रूप में उनकी आंखों के सामने।

सम्राट अशोक क्रोध से काँप उठे। उन्होंने आदेश दिया, 'तिष्यरक्षिता को जीवित ही भूमि मे गाड़ दो !'

किन्तु कुणाल ने महाराज के पैरों पर गिर कर कहा, "नहीं महाराज, क्षमा कीजिये। वे मेरी माता हैं, पूज्या हैं !"

सुनते है, कुणाल के इस कथन के साथ ही साथ उनकी आँखे फिर लौट आईं, क्यो न हो? त्याग और उदारता का चमत्कार ऐसा ही होता है!



# देवदत्त

गौतम का प्रधान शत्रु था, यही देवदत्त, और देवदत्त के साथ गौतम की आत्मीयता भी अधिक थी।

गौतम थे कपिल वस्तु के महाराज शुद्धोदन के पुत्र। वे जब युवराज 'सिद्धार्थ' के रूप में प्रसिद्ध थे, उनका उनके मामा की कन्या यशोधरा के साथ विवाह हुआ था। उन दिनो उस देश में मामा की कन्या के साथ विवाह करने की प्रथा थी। यशोधरा थीं, कोलिराज सुप्रबुद्ध की एक मात्र कन्या। अत्यन्त सुन्दरी, अत्यन्त गुणवती। देवदत्त उन्हीं यशोधरा का जेठा भाई था, और गौतम का भी अपना ममेरा भाई।

सिद्धार्थ जब बुद्ध का पद प्राप्त करके गौतम बुद्ध के रूप में देश मे पर्यटन करने लगे, तब आनन्द, अनिरुद्ध, इत्यादि राजकुमारों के साथ ही साथ देवदत्त ने भी उनकी शिष्यता स्वीकार कर ली। देवदत्त दिन रात साधन, योग में निरत रहने लगा। उसने कुछ ही दिनों मे असाधारण क्षमता प्राप्त कर ली। वह इच्छा करने पर ही आकाश में उड़ने लगा, अनोखे-अनोखे कार्य करने लगा। किन्तु वह स्वभाव का क्रूर था। अपनी इस असाधारण शक्ति का परिचय कभी कभी वह क्रूरता से दिया करता था। वह बुद्ध से बड़ा होना चाहता था, बहुत बड़ा।

अन्त में वह बुद्ध से अलग होकर एक दूसरे दल की स्थापना के लिये प्रयत्न करने लगा।

बुद्ध की अवस्था थी, उस समय बहत्तर वर्ष की। उन दिनों भारत के सबसे अधिक शक्तिशाली राजा थे, मगध के बिम्बिसार और कोशल के प्रसेनजित। किन्तु वे भी गौतम के शिष्य थे, वे भी उनके चरणों की आराधना करते थे। देवदत्त भीतर ही भीतर जला करता था, ईर्षा की आग मे, डाह की ज्वाला मे। गौतम को इन नृपतियों की ओर से सब कुछ मिलता था, किन्तु देवदत्त को कुछ नहीं। वह भीतर ही भीतर प्रयत्न करता, किन्तु सफल न होता, निराशा की चोट ही सहता।

बिम्बिसार के पुत्र थे अजात शत्रु। वही मगध के युवराज थे, वही उस बड़े साम्राज्य के एक मात्र स्वत्वाधिकारी थे। देवदत्त ने छलबल से अजातशत्रु को अपने वश में कर लिया, अपना पुजारी बना लिया। उसी ने एक 'विहार' बनवा दिया। बौद्ध सन्यासी जिस घर मे रहते हैं, उसी को कहते हैं विहार। अजातशत्रु की कृपा से उस विहार मे पाँच सौ सन्यासी रहते, और उन्हे प्रतिदिन नियम से भोजन भी मिला करता था। देवदत्त गर्व का अनुभव करता, अभिमान की भावना लाता। उसकी अभिलाषा पूर्ण हुई थी न! फिर अब क्या चाहिये ?

देवदत्त के हृदय मे अभिमान, ईर्षा की भावना। योग की शक्तियां कब तक टिकी रहती। योग की शक्तियो के लिये तो चाहिये, हृदय मे सात्त्विकता। देवदत्त की अलौकिक शक्तियाँ

नष्ट होगई। वह पुनः गौतम की शरण में गया। किन्तु गौत
ने उसे उसका प्राचीन पद देने से अस्वीकार कर दिया। उसक
हृदय आघात से तिलमिला उठा, और जल उठी, अन्तर
कोने कोने में प्रबल प्रतिद्वन्द्विता की आग।

देवदत्त मन ही मन सोचने लगा, गौतम के सर्वनाश
उपाय! एक दिन उसने अजात शत्रु से कहा, 'आजात शत्रु
तुम्हारे पिता गौतम की बातों को मानकर पथ-भ्रष्ट हो रहे हैं
उन्हीं के साथ साथ तुम्हारा वह साम्राज्य भी, जिसके तु
उत्तराधिकारी हो, पथ-भ्रष्ट होता जा रहा है। तुम उन्हें अप
मार्ग से हटा दो, सदा के लिये संसार से मिटा दो!'

अजात शत्रु देवदत्त की बातों में आगया। वह अस्त्र लेक
स्वयं अपने पिता को मारने के लिये गया, किन्तु लाख प्रय
करने पर भी उसके अस्त्र बिम्बिसार पर न चल सके। व
विवश हो उठा, और पराजित-सा होकर फिर अपने भवन
लौट गया। अन्त में उसने देवदत्त की ही सलाह से पिता
बन्दी करके भूखों मार डालने की व्यवस्था की थी।

बिम्बिसार मर गया, साम्राज्य का स्वामी हुआ अजा
शत्रु। अब तो देवदत्त की पाँचों उँगुलिया घी मे थीं। अब व
अजात शत्रु की सहायता से गौतम के सर्वनाश की चेष्
करने लगा।

एक दिन देवदत्त ने अपने साथ लिये, राज्य के पाँच ती
न्दाज़! उसका अभिप्राय था, इन तीरन्दाज़ों की सहायता

गौतम का वध करना, और फिर उन्हें विष देकर स्वयं ही मार डालना। गौतम की मृत्यु का रहस्य भी किसी को न ज्ञात होगा, और देवदत्त वन जायगा, भारत का सर्वश्रेष्ठ धार्मिक नेता।

किन्तु क्या देवदत्त की इच्छा पूर्ण हो सकती थी? नहीं, कदापि नहीं। सत्य के सामने असत्य कैसे टिक सकता था? देवदत्त के तीरन्दाज़ बुद्ध के पास जाकर, दूरसे उनके वक्ष को लक्ष्य कर करके वाण चलाने लगे। किन्तु सब निष्फल, सब व्यर्थ। वाण कुछ दूर जाकर वाण चलाने ही वाले के पास लौट आते थे। देवदत्त की अभिलाषा विफल हुई। किन्तु तीर-न्दाज़ तो आश्चर्य-चकित हो उठे। सबके सब धनुष वाण फेंक कर दौड़ कर गौतम के पास गये, और उनके चरणों पर गिर कर अपने अपराध के लिये क्षमा माँगने लगे। गौतम ने उन्हें क्षमा कर दिया, अपना शिष्य बना लिया।

किन्तु क्या देवदत्त अपने षड़यंत्रो का परित्याग कर सकता था? नहीं, वह बराबर गौतम के सर्वनाश के लिये षडयंत्रो की सृष्टि करता रहा। एक दिन देवदत्त को पता चला, कि गौतम एक पहाड़ के किनारे-किनारे कहीं जा रहे हैं। उसने सोचा, 'इस वार गौतम के सर्व नाश का अच्छा सुयोग उपस्थित हुआ। पहाड़ के ऊपर से वड़े बड़े पाषाण—खण्डों को गौतम के सिर पर गिरा दूंगा। वस फिर क्या? सदा के लिये उनका अस्तित्त्व मिट जायगा। देवदत्त ठीक समय पर पहाड़ पर पहुँच गया, और जब गौतम नीचे दिखाई दिये, तब वह लगा उनके ऊपर वड़े-बड़े

पाषाण खण्ड ढकेलने। किन्तु आश्चर्य ! गौतम के शरीर में क छिलन भी न आई। वे बड़े-बड़े पाषाण खण्ड गौतम के शरीर जैसे पुष्प की भाँति लग रहे थे।

देवदत्त का यह उपाय भी व्यर्थ गया। किन्तु वह निराश हुआ। वह गौतम के सर्वनाश के पथ पर साहस के साथ आगे बढ़ता ही गया, बढ़ता ही गया।

गौतम प्रतिदिन प्रातःकाल राज-पथ से हो कर भिक्षा के लिये नगर में जाते थे। देवदत्त ने सोचा, 'अजात शत्रु के पास नालगिरि नामक जो प्रकाण्ड हाथी है, एक दिन उसको शराब पिला कर राज-पथ पर छोड़ दूँ। हाथी सूँड़ में गौतम को लिपेट कर पैरों से कुचल देगा।'

देवदत्त की यह चाल गौतम को मालूम हो गई। जिस दिन देवदत्त राज-पथ पर हाथी, छोड़ने वाला था, गौतम ने अपने सभी शिष्यों को भिक्षा के लिये बाहर जाने से रोक दिया। किन्तु वे स्वयं चल पड़े, अकेले राज-पथ की ओर। गौतम को अकेले जाता हुआ देख कर उनके लाख-लाख शिष्य भी उसी ओर चल पड़े। इधर 'नालगिरि' हस्तिशाला से निकल कर घरों और पेड़ों को तोड़ता-फोड़ता राज्य-पथ की ओर आगे बढ़ा जा रहा था। मार्ग में जा रही थी, एक असहाय स्त्री। उसकी गोद में एक बच्चा भी था। सहसा उन्मत्त नालगिरि सामने आ गया। उसने सूंड़ बढ़ा कर स्त्री को पकड़ लिया। स्त्री की

चीत्कार चारों ओर गूँज उठी। किन्तु किसमे साहस था, जो 'नाल गिरि' के सामने जाकर मृत्यु का सामना करता।

दैव की इच्छा! इसी समय अपने भिक्षुओ के साथ आगये गौतम! गौतम आगे वढ़ते हुये 'नालगिरि' के सम्मुख जा पहुँचे। 'नाल गिरि' वच्चे सहित स्त्री को सूँड़ मे लिपेटे हुये आँखो से आग उगल रहा था। गौतम ने उसे सम्वोधित करते हुये कहा, 'नालगिरि! तू यह क्या कर रहा है? देवदत्त ने तुझे छोड़ा है, मेरा सर्वनाश करने के लिये। आगया तेरे सम्मुख मै। तू इस असहाय स्त्री को छोड़ दे, और मुझे अपने पैरों से कुचल!'

गौतम की वाणी में जादू, देवत्व की शक्ति! नालगिरि की सारी उद्दण्डता धूल मे मिल गई। वह स्त्री को छोड़ कर भूमि पर लोटने लगा, और करने लगा, सूँड़ से गौतम के चरणों की वन्दना। चारों ओर गूँज उठी, गौतम की जयजयकार। हजार-हजार की संख्या मे लोग दौड़ कर आने लगे, और देने लगे, 'नालगिरि' को तरह तरह का उपहार। जिसके शरीर पर जो हो होता, वही उतार कर वह नालगिरि को पहना देता। थोड़ी ही देर मे नालगिरि गहनों और कपड़ो से लद गया। इसी लिये तो गौतम ने उसका नाम भी वदल कर दूसरा रख दिया, 'धनपालक।'

इस घटना के वाद ही चारो ओर यह आवाज "देवदत्त क्रूर है, दुष्ट है!!" जिसे देखिये वही उसे दुतकार रहा है, जिसे देखिये

वही उसके प्रति घृणा प्रदर्शित कर रहा है। उसके शिष्यों ने उसे छोड़ दिया, उससे अलग हो गये। अजातशत्रु के मन में भी विरक्ति की भावना उत्पन्न हो उठी। उन्होंने भी उसे अपने मन से निकाल दिया, अपनी सारी सहायता बन्द कर दी। वह आपद में पड़ गया, अत्यन्त आपद में अब न तो उससे कोई बात करता, न उसे भिक्षा देता। भिक्षा के लिये निकलता तो लोग 'दूर रह, दूर रह' की आवाज़ निकालते, और उसका भिक्षा-पात्र फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर देते!

देवदत्त विवश होकर पुनः गौतम के पास गया। उसने कहा, महाराज! मैं फिर आपकी शरण में आना चाहता हूँ। किन्तु आप को भविष्य के भिक्षुओं के लिये एक नियम प्रचारित करना होगा?

'कौनसा नियम देवदत्त'—गौतम ने पूछा।

देवदत्त ने कहा, यही, कि भिक्षु श्मशान में परित्याग किये हुये वस्त्र के अतिरिक्त और कोई वस्त्र धारण न करेंगे, और मांस कभी न खायेंगे।"

गौतम ने हँस कर उत्तर दिया, 'मेरे लिये यह असम्भव है देवदत्त! मैं ऐसा नहीं कर सकता। मेरे शिष्यों में अधिकांश सम्भ्रान्त और भद्र मनुष्य हैं। उनमें से कोई श्मशान में परित्याग किया हुआ वस्त्र न धारण कर सकेगा। यदि किसी ने धारण भी किया तो वह गृहस्थों के निकट घृणा का पात्र होगा। अब रही मांस की बात! जो लोग भिक्षा के द्वारा जीवन निर्वाह

करते हैं, उनके भोजन के सम्बन्ध मे कैसे कुछ निर्णय किया जा सकता है ? भक्तो की श्रद्धा ! उन्हें वे जो कुछ भिक्षा रूप मे देंगे, उसे वे प्रसन्न चित्त से ग्रहण करेगे। यदि कोई उन्हें मांस खाने के लिये देगा, तो जीव हत्या का पाप देने वाले को होगा, खाने वाले को नहीं। इसलिये इस सम्बन्ध मे भी इस प्रकार का नियम बनाना बहुत ही अनुचित होगा !'

देवदत्त पुन' क्रोधित हो उठा, और वह पुनः गौतम को हानि पहुँचाने के लिये चेष्टा करने लगा। वह लगा करने प्राणपण से गौतम के शिष्यों मे प्रचार, 'गौतम पथ-भ्रष्ट है, अधार्मिक है।' देवदत्त की चेष्टा कुछ सफल भी हुई। गौतम के बहुत से शिष्यों ने उनका साथ छोड़ दिया, किन्तु असत्य का प्रभाव कब तक स्थिर रहता ? कुछ ही दिनों के पश्चात् वह उड़ गया, और देवदत्त का हृदय पुन विपत्तियों के कांटो से चीत्कार कर उठा, विवश बन गया।

उन दिनों गौतम जेतवन में ठहरे हुये थे। देवदत्त फिर चला गौतम के पास। उसके मन मे पीड़ा थी, अनुताप था। किसी भिक्षु ने गौतम के पास जाकर कहा, "महाराज देवदत्त आपकी शरण मे आरहा है !"

'किन्तु उसकी आशा पूर्ण न होगी !—गौतम ने उत्तर दिया—वह इस जीवन मे मेरा दर्शन न कर सकेगा !'

हुआ भी यही ! देवदत्त अभी जेतवन से कुछ दूर ही थ
कि पृथ्वी फट पड़ी, और निकलने लगी, उससे अग्नि की धारा।
उसी ने देवदत्त को जला दिया, उसे सदा के लिये संसार से
मिटा दिया। देवदत्त चिल्ला रहा था, 'वचाओ, वचाओ, रक्षा
करो, किन्तु नरक की वह अग्नि-शिखा, जब प्रज्वलित हुई, तब
फिर बन्द न हुई, बन्द न हुई !!



# अहिंसक

आज से वहुत पूर्व की वात है। कोशल के राजा प्रसेनजित का एक पुरोहित था। नाम था, भार्गव। राजा उसका अधिक सम्मान करते, उसके प्रति अधिक भक्ति प्रदर्शित करते। वास्तव मे था भार्गव सत्य की मूर्ति। राजा के कल्याण की भावना उसकी रग रग मे वसी हुई थी। इतना ही नहीं, एक दिन वह राजा ही के कल्याण के लिये अपने सद्यजात पुत्र का भी वध करने के लिये तैयार हो उठा था।

भार्गव के घर मे जिस दिन इस पुत्र का जन्म हुआ, राजधानी मे अपने आप एक हलचल-सी उत्पन्न हो उठी। ज्योतिपियों ने कहा, 'यह वालक एक भयानक डाकू होगा। मनुष्यों का संहार ही इसका व्यापार होगा!'

भार्गव ने निश्चय किया, वह अपने इस नवजात शिशु को मार डालेगा। उसने राजा के समीप जाकर उसके कानो मे भी यह वात डाली।

राजा ने कहा, 'देवता मनुष्य सभी भूल करते हैं। ज्योतिषी भी तो मनुष्य ही हैं। कौन जाने उन्होने विचार करने मे भूल की हो, और फिर मान लो, कि यदि यह वालक दस्यु ही हुआ, तो क्या राज-शक्ति उसका दमन न कर सकेगी? अतएव भाई,

भूल न करो। इस नव जात शिशु को मारकर अपने साथ ही साथ मुझे भी कलंकित न करो!'

राजा की 'आज्ञा! भार्गव ने अपने विचार का परित्याग कर दिया। भार्गव की स्त्री, मानविका, बड़ी प्रसन्न हुई। करने लगी, ईश्वर से प्रार्थना–भगवान! मेरे नयनमणि की कलंक से रक्षा करो, उसे अहिंसा की मूर्ति बनाओ। इसीलिये उसने उसका, उसी शिशु का, नाम रक्खा, अहिंसक। उसने सोचा कौन जाने, नाम सार्थक हो उठे?

अहिंसक बढ़ने लगा, धीरे धीरे वय-प्राप्त करने लगा। जब पांच वर्ष का हुआ, तब माता के आशीर्वाद के साथ तक्षशिला में पढ़ने के लिया गया। बड़ा मेधावी, बड़ा ही तीव्र बुद्धि वाला। कोई उसकी बराबरी न करता। वह हर एक काम में सबसे आगे रहता, बहुत आगे। लोग उससे जलते ईर्षा, करते। एक साधारण पुरोहित का लड़का, इतना मेधावी! पर किसी का वश क्या था?

अध्यापक में एक दोष था। वे छिपकर करते थे सुरापान। क्यों न हो? यदि राजा को यह बात ज्ञात हो जाती तो राज वृत्ति बन्द न हो जाती! उन दिनों यह नियम था, अध्यापक का चरित्र निर्मल हो, हृदय हर एक प्रकार के दोषों से रहित हो। एक दिन पाठशाला के लड़कों ने गुरु से कहा, 'गुरु जी, आपके सुरापान की बात अहिंसक भी जानता है। वह कह रहा था, मैं राजा के पास जाकर इसकी शिकायत करूँगा।

गुरु चिन्तित हो उठे। सोचने लगे, 'यदि कही सचमुच अहिंसक ने राजा से यह बात कह दी, तो इसमें सन्देह नहीं, कि मै पाठ शाले से अलग कर दिया जाऊँगा। वह राज्य-पुरोहित का पुत्र है। राजा अवश्य ही उसकी बात का विश्वास करेंगे। किन्तु नहीं, ऐसा अवसर ही न आयेगा। मै कौशल से अहिंसक को दूर कर दूँगा, बहुत दूर !!

एक दिन गुरु ने अहिंसक को अपने पास बुलाया और कहा, "अहिंसक मैं तुम पर अधिक प्रसन्न हूँ। अतः मै तुम्हे एक ऐसी विद्या देना चाहता हूँ, जिसे मैंने आज तक किसी को नहीं दी है। किन्तु एक शर्त है!"

वह कौन सी शर्त है गुरु जी—अहिंसक ने पूछा।

गुरु ने कहा, 'बेटा ! तुम्हे एक सहस्त्र मनुष्यो का वध करना होगा, और उनकी एक एक उँगुली काट कर मेरे पास लानी होगी !'

अहिंसक कुछ देर तक सोचता रहा। फिर वह बोल उठा, 'आपकी आज्ञा स्वीकार है गुरु जी !'

अहिंसक पाठशाला छोड़ कर चला गया, वन मे। वन के भीतर से होकर आठ मार्ग आकर राज-पथ मे मिलते थे। प्रतिदिन किसी न किसी मार्ग से मनुष्य निकलते ही। अहिंसक एक-एक करके सबका वध करने लगा। आठो मार्ग बन्द हो गये। चारो ओर एक हाहाकार सा फैल गया।

सारा कोशल राज्य संत्रस्त हो उठा, राजा प्रसेनजित भी चिन्तित हो उठे। गुप्तचरों ने आकर यह संवाद दिया, 'दस्यु कोई और नहीं, वही अहिंसक है, राज पुरोहित भार्गव का पुत्र। राजा ने निश्चय किया, वे स्वयं सेना लेकर जायँगे, और अहिंसक का वध करेंगे।'

राजा के निश्चय को भार्गव ने सुना, और उनकी स्त्री ने भी। भार्गव चुप रहा। उसने पुत्र को बचाने के लिये कोई प्रयत्न न किया। किन्तु माता का हृदय। उसमे अशान्ति पैदा हो उठी। उसने मन ही मन स्थिर किया, वह वन में जायगी, और अहिंसक का उद्धार करेगी।

राजा कल प्रातः काल अहिंसक का दमन करने के लिये ससैन्य वन मे जायँगे। चारों ओर यह सम्वाद फैल गया। सब प्रसन्न हुये, आह्लादित। किन्तु मानविका का हृदय चीत्कार कर उठा। उसके अन्तर अन्तर मे अशान्ति की एक आँधी-सी उठ खड़ी हुई। वह अर्द्धरात्रि में उठी, और वन की ओर दौड़ चली। वन मे चारों ओर निस्तब्धता। वह वन की उसी निस्तब्धता को भंग करती हुई रोने लगी, विलाप करने लगी। बेटा अहिंसक कहाँ हो तुम! आओ, शीघ्र आओ। किन्तु कौन सुनता है, उस वन में उसकी। व्याकुल आवाज उसके मुंह से निकलती थी, और वन की निस्तब्धता से टकरा कर पुनः उसके पास लौट आती थी। वह रोते-रोते मूर्च्छित होगई।

कुछ देर के पश्चात् मूर्च्छना भंग हुई। उसने आँखें खोल कर देखा, सौम्य मूर्ति-धारी एक भिक्षु। भिक्षु ने कहा, 'तुम कौन हो माँ, मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा दूंगा।'

मानविका ने उत्तर दिया, "नहीं भगवन्! मै घर न जाऊँगी। मैं जाना चाहती हूँ इस वन में रहने वाले दस्यु के पास। आप कृपा करके मुझे उसका मार्ग बता दे।"

क्यों माँ!—"भिक्षु ने कहा—किस दुख से तुम दस्यु के हाथो अपने को मृत्यु के मुख मे डालना चाहती हो।"

'वह दस्यु मेरा पुत्र है भगवन!—मानविका ने उत्तर दिया—मैं उसे बचाना चाहती हूं। राजा उसे मारने के लिये कल ससैन्य आ रहे हैं। मेरा अकेला पुत्र राजा की सेना का कैसे सामना कर सकेगा? वह निश्चय ही मारा जायगा, हाय मेरी आँखो का तारा।"

भिक्षु ने मानविका को सांत्वना देते हुये कहा, "चिन्ता न करो माँ! चलो, मै भी तुम्हारे साथ चल रहा हूँ। हम दोनो ही उसे वन से लौटा लाने का प्रयत्न करेगे।"

'नहीं भगवन!—मानविका ने उत्तर दिया—आप वन मे न जायँ! वह चाण्डाल आपको मार डालेगा। आज तक, जो कोई उसके सामने गया, सभी मृत्यु के मुख मे चले गये। मै अकेली जाऊँगी। मै उसकी माँ हूं। मुझे उसकी ममता है। उसे भी मेरी ममता अवश्य ही होगी।"

भिक्षु हँस पड़ा । उसने कहा, 'माँ मैं श्रमण हूं, संसार के माया-बन्धन को मैं काट चुका हूँ। दूसरों के कल्याण के लिये प्राणों का विसर्जन करना ही श्रमण का कर्त्तव्य है। तुम मेरी चिन्ता न करो। मै अवश्य ही तुम्हारे साथ चलूँगा।'

मानविका की आँखें सजल से उठीं। उसने कहा, 'श्रमण रूप में आप मेरे भगवान हैं। मुझे ऐसा ज्ञात हो रहा है, आज निश्चय ही मेरे पुत्र का उद्धार होगा, निश्चय ही वह मृत्यु के मुख में जाने से बच जायगा !'

भिक्षु आगे आगे वन की ओर चला, और उसके पीछे चली मानविका। कुछ दूर जाने के पश्चात ही कोई गरज उठा, "कौन है खड़ा रह ?" साथ ही साथ एक हृष्ट-पुष्ट युवक एक वृक्ष पर से नीचे कूद पड़ा।

"कौन ? बेटा, अहिंसक, बेटा अहिंसक !!!,—मानविका चिल्ला उठी, और दौड़ कर उससे लिपट गई। आँखें झरना बन गईं। अहिंसक का वक्षःस्थल आँसु से भीज उठा। वह कांप उठा, केवल एक ही मनुष्य की हत्या करना तो शेष है ! फिर क्या उसकी साधना निष्फल होगी ? वह प्रलय-वेग से माता से छूट कर भिक्षु की ओर झुका, और कहने लगा, "श्रमण ! तैयार हो जाओ। मैं तुम्हारे प्राणों का वध करूंगा।"

कहने के साथ ही अहिंसक की तलवार उठ पड़ी।

भिक्षु ने कहा, 'आगे मत बढ़ना। तुम जहाँ हो, वहीं खड़े रहो !'

अहिंसक मन्त्र-मुग्ध सा स्थिर हो गया। उसके हाथ-पैर सभी स्थिर हो गये। उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानो उसकी सारी शक्ति विलीन-सी हो गई है। वह आँखों मे आश्चर्य भर कर भिक्षु की ओर, और क्रन्दनशील वन कर माता की ओर देखता ही रह गया।

भिक्षु ने कहा, वेटा ! तुम क्यों नर-हत्या करते हो ?

'गुरु के आदेश से !—अहिंसक ने उत्तर दिया—इसके विना वे मुझे विद्या-दान न दे सकेंगे।'

भिक्षु ने प्रेम से अहिंसक के कन्धो पर हाथ रक्खा, और कहा, "वेटा ! तुम भूलते हो। हिंसा-वृत्ति के द्वारा कभी विद्या प्राप्त नहीं की जा सकती। अभाग्य से तुम ऐसे गुरु के पास विद्या पढ़ने के लिये गये थे, जिसमे अनेक दुर्गुण थे, और उसने किसी कारण वश तुम्हे अपने स्वार्थ का साधन वनाया है !"

अहिन्सक ने दोनों कानों पर हाथ रख कर उत्तर दिया, "ना, ना, आप ऐसा न कहे ! गुरु की निन्दा करना और सुनना दोनों पाप है !"

भिक्षु ने कहा, 'ठीक है वेटा ! गुरु की निन्दा मै न करूँगा। मै देखता हूँ अव भी तुम्हारे हृदय मे ज्ञान की ज्योति है। चलो मेरे आश्रम मे चलो। मैं तुम्हे विद्या दूंगा, ज्ञान दूंगा; और फिर ज्ञान से तुम यह जान जाओगे, कि हिन्सा वड़ी है, या अहिन्सा !'

अहिन्सक ने कहा, "बहुत अच्छा, किन्तु पहले आप मुझे यह बतायें, कि मैं आपकी हत्या क्यों नहीं कर सका ? मेरे हाथ क्यों विवश हो गये ?"

भिक्षु ने कहा, 'अहिन्सा की शक्ति से। जिस दिन तुम अहिन्सक होगे, तुम भी इसी प्रकार शक्तिशाली और वाक्सि[illegible] बन जाओगे। आओ तुम अपने माता की आज्ञा लेकर [illegible] आश्रम मे आओ।"

मानविका पुत्र में इस प्रकार का परिवर्त्तन देख कर आन[illegible] से आँसु बहाने लगी। उसने अहिन्सक को छाती से लगा कर चूम लिया, और अहिन्सक उसे प्रणाम करके भिक्षु के साथ साथ चल पड़ा उसके आश्रम की ओर।

दूसरे दिन प्रातःकाल कोशलराज ससैन्य वन मे [illegible] उन्होने चारों ओर अहिन्सक की खोज की। किन्तु कहीं उसका पता न लगा। पता कैसे लगे ? वह वन में हो भी तो !!

इधर अहिन्सक आश्रम में विद्या प्राप्त करने लगा। विद्या [illegible] उसकी वुद्धि निर्मल हो गई। उसने समझा, कि अहिन्सा [illegible] मनुष्य कितनी शक्ति प्राप्त कर सकता है। पाशविक शक्ति उसके सामने तुच्छ है, अधिक तुच्छ। उसे एक नवीन प्रकाश सा मिला। उस प्रकाश में उसे पशु जीवन की सम्पूर्ण कालि[illegible] स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगी। वह बन गया, नम्र, सब[illegible] अधिक नम्र।

एक दिन अहिन्सक भिक्षा के लिये बाहर निकला। किन्तु यह क्या ? वह जिस द्वार पर भिक्षा के लिये खड़ा होता, वही भय के कारण बन्द कर लिया जाता। वह निराश हो कर आश्रम की ओर लौट रहा था। मार्ग में मिला, एक गृहस्थ का घर। उसने उस द्वार पर भी भिक्षा की याचना की। किसी ने भीतर से निकल कर कहा, 'भिक्षा न मिलेगी। गृहस्थ का पुत्र मृत्यु के निकट है।'

अहिन्सक खाली पात्र लेकर आश्रम में लौट आया। उसने भिक्षु को सारी बातें बता दीं। भिक्षु ने कहा, 'अहिन्सक ! तुम फिर जाओ उस गृहस्थ के घर। जा कर उसके पुत्र की शय्या के पास कहो, यदि मैंने जन्म से लेकर आज तक कभी अपनी इच्छा से प्राणी-हिन्सा न की हो तो मेरे पुण्यों के प्रभाव से यह रोगी स्वस्थ हो जाय।'

अहिन्सक को अधिक आश्चर्य हुआ।

उसने कहा, 'यह कैसी बात भगवन ! मैंने तो सैकड़ों मनुष्यों वध किया है !'

'किया होगा—भिक्षु ने कहा—तुम उस समय एक साधारण मनुष्य थे, किन्तु इस समय हो भिक्षु, और उस पर भी नव जीवन प्राप्त। जावो, आज तुम्हारी परीक्षा का दिन है !"

अहिन्सक पुनः उस गृहस्थ के घर गया। उसने रोगी की शय्या के पास खड़ा होकर कहा, 'यदि मैंने कभी अपनी इच्छा से प्राणी हिन्सा न की हो तो यह रोगी स्वस्थ हो जाय।'

आश्चर्य! वाक्य समाप्त होने के साथ ही साथ रोगी उठकर बिछौने पर बैठ गया। मानों वह सोया हुआ था। अहिन्सक अवाक् हो उठा—"क्या कभी एक अधम व्यक्ति से यह कभी संभव हो हो सकता है, ना ना। यह गुरु की कृपा है।' अहिन्सक सोचते सोचते आश्रम में आया!

भिक्षु ने उसे सांत्वना देते हुए कहा, 'अहिन्सक आश्चर्य मत करो। यह सब कुछ सम्भव है। इस समय तुम्हारा पुनर्जन्म हुआ है। आज तुम्हारी माता का दिया हुआ अहिन्सक नाम सार्थक हुआ, तुम वास्तव में अहिन्सक हो, अहिन्सा की मूर्ति हो।



# शरणार्थी के लिये

रणथम्भोर का दुर्ग। महाराणा हम्मीर सभा के मध्य मे राज सिंहासन पर विराजमान थे। सैनिक-सामन्त भी अपने अपने स्थान पर बैठे हुये थे। चल रही थीं राज काज की बाते। सहसा द्वारपाल ने आकर निवेदन किया,—"महाराज एक यवन आया है। आपसे मिलना चाहता है !'

'यवन !—हम्मीर ने आश्चर्य-चकित होकर कहा—अच्छा आने दो !'

सब की दृष्टि द्वार की ओर लग गई। यवन ! वह क्यों आया है ? कहां से आया है ? क्या कहीं से संग्राम का सम्वाद लाया है ? लोगों के मन मे उठ रहे थे यही विचार। यवन ने महाराणा के सम्मुख पहुँच कर नम्रता से सिर झुकाया, और कहा, 'महाराणा की जय हो !'

"तुम कौन हो भाई !—महाराणा ने पूछा—कहाँ से आये हो, और क्या चाहते हो ?"

यवन की आँखें सजल हो उठीं। उसने उन्हीं सजल आँखो में दीनता भर कर कहा, "महाराज ! मै दिल्ली सम्राट अला-उद्दीन का एक दरबारी हूँ। मेरा नाम है मैहमाशाह। सम्राट ने मुझे दरबार से निकाल दिया है, और दी है प्राण दण्ड की

आज्ञा। मेरी रक्षा कीजिये महाराज ! मैं आपकी शरण मे आया हूँ !"

महाराणा कुछ देर के लिये विचार-मग्न हो गये।

मैहमाशाह ने पुन. आँखों में दीनता भर कर कहा, "क्या मुझे आश्रय न मिलेगा महाराज !"

"मिलेगा !—महाराणा ने अपनी गम्भीर आकृति को ऊपर उठाकर कहा—तुम यहाँ रहो और रहो निर्भय चित्त से! तुम्हारा........!'

महाराणा की वात समाप्त भी न होने पाई थी, कि मंत्री बीच ही में बोल उठे, 'किन्तु महाराज !"

महाराणा ने मंत्री की ओर देखा और कहा, किन्तु क्या मंत्री जी ! कहिये, कहिये आप चुप क्यों हो गये ? आप न कहेंगे। अच्छा मैं ही आपकी वात पूरी किये देता हूँ। आपको भय है, कहीं दिल्ली-सम्राट अलाउद्दीन इस कार्य से विक्षुब्ध होकर रणथम्भोर के दुर्ग पर आक्रमण न कर दें। क्यों यही न मंत्री जी !

हाँ महाराज !—मंत्री ने सिर कुछ ऊपर उठाकर कहा।

किन्तु मंत्री जी !-महाराणा ने गर्व के साथ कहा—आप यह क्यों भूल जाते हैं, कि मैहमाशाह शरणार्थी है। शरण मे आये हुये को शरण देना और उसके लिये अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देना ही मानव जगत का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। फिर क्या मैं दिल्ली सम्राट से भयभीत होकर अपने धर्म को छोड़ दूं ? नहीं मंत्री जी

नहीं, यह मुझ से न हो सकेगा। मैं मनुष्य हूँ। मनुष्यों में राज-पूतों की तलवार की छाया के नीचे जो आया, उसके लिये राज-पूत अपने प्राणों की वाजी लगा देते हैं।

सारी राज-सभा सन्न हो उठी। मंत्री का मस्तक नत हो गया, और मैहमाशाह दरवार में रहने लगा।

एक वर्ष के वाद। राज सभा में दिल्ली-सम्राट अलाउद्दीन का दूत खड़ा था। वह कह रहा था, महाराणा से सम्राट का सन्देश "मैहमाशाह सम्राट का अपराधी है, उसे सम्राट के पास भेज दीजिये। नहीं तो रणथम्भोर का दुर्ग सम्राट का कोप भाजन होगा!"

महाराणा की रग-रग मे विजली दौड़ गई। फूट पड़ी आंखो से चिनगारियाँ। उन्होंने क्रोध के स्वर में कहा, 'आप अपने सम्राट से कह दें दूत, मै इस प्रकार की धमकियो से भ भीत होने वाला नहीं। मैहमाशाह मेरी शरण में आया है। चाहे कुछ भी हो, मैं अब उसे अलाउद्दीन के पास न भेजूँगा!"

दिल्ली-पति सम्राट अलाउद्दीन। उसके चरणों पर सारा भारत लोट रहा था। हम्मीर की एक एक वात उसके हृदय मे बर्छी मारने लगी। वह एक वहुत वड़ी सेना लेकर दौड़ पड़ा रणथम्भोर की ओर।

राजपूत भी हाथ मे तलवार लेकर घर से निकल पड़े। छान दर्रे पर युद्ध हुआ, भयानक युद्ध। सम्राट की प्रवल सेना संग्राम करती हुई दुर्ग के समीप पहुँचना चाहती थी, किन्तु प्राणों

पर खेलने वाले वीर राजपूत ! सम्राट के सारे प्रयत्न निष्फल होते जा रहे थे। इसी समय दुर्भाग्य से हम्मीर के दीवान, सुरजन ने विश्वासघात किया। वह गुप्त रूप रूप से सम्राट से जा मिला। उसने सम्राट से कहा, "आप चिन्ता न करें। मैं दुर्ग पर आपका आधिपत्य स्थापित करा दूंगा।"

राजपूत लड़ रहे थे, प्राणों की बाजी लगा कर, जी, जान की आशा छोड़ कर। दीवान ने महाराणा से कहा, 'महाराज दुर्ग की भोजन-सामग्री समाप्त हो गई।'

महाराणा चिन्तित हो उठे।

रात का समय था। दुर्ग में सैनिक-सामन्तों के साथ विचार विनिमय हो रहा था। दुर्ग की भोजन-सामग्री समाप्त होगई। फिर अब कैसे काम चलेगा! यही विकट प्रश्न था, सबके सामने। मैहमाशाह बोल उठा, 'यह युद्ध मेरे लिये है महाराज! मेरे लिये ही आज रण-थम्भोर पर आपत्ति आई है। मुझे सम्राट के पास भेज दीजिये!'

हम्मीर की रग-रग में उत्तेजना दौड़ उठी। उन्होंने कहा, नहीं, यह कदापि नहीं हो सकता। राजपूत शरण में आये हुये का कभी भी परित्याग नहीं करते। कल प्रभात होते ही सभी राजपूत हाथ मे तलवार लेकर घर से वाहर निकल पड़ेगे, और रानियाँ करेंगी, जौहर व्रत। कल प्रलय का दिन होगा, प्रलय का। एक-एक राजपूत शाही सेना का मन्थन करता हुआ समर भूमि में सोयेगा। दुनिया देखेगी, और देख-देख कर चकित हो जायगी।

प्रभात का समय। चारो ओर वीर हम्मीर की जय! आकाश कांप उठा, पृथ्वी हिल उठी। राजपूत शरणार्थी के लिये केस-रिया वस्त्र पहन कर युद्ध-भूमि मे जा रहे हैं न! सम्राट की सेना तैयार थी ही! रण भूमि गरज उठी। तलवारें चनकने लगीं। मृत्यु के लिये निकले हुये राजपूत! उनकी प्रचण्ड प्रगति को कौन रोक सकता था! वे अपनी विद्युत सरीखी तलवारे चमकाते हुये सम्राट की सेना को बहुत पीछे भगा ले गये। सम्राट की सेना के पैर उखड़ गये। वह भाग चली रण भूमि को छोड़ कर। उसके झण्डे, उसके सम्पूर्ण सामान, राजपूतो के हाथ मे लगे। राजपूत जय जयकार कर उठे।

राजपूत सेना जयनाद करती हुई यवन-झण्डों को लेकर अपने दुर्ग की ओर चली। दुर्ग मे रहने वाली रानियों ने समझा, यवन जीत गये। फिर क्या? सबकी सब चिता मे बैठ कर जल गईं। महाराणा हम्मीर जब दुर्ग मे पहुँचे, तब उन्हे दिखाई पड़ा राख का ढेर। उन्हे दुख हुआ, अत्यन्त दुख। उन्होने अपना सिर काट कर शिव जी को समर्पित कर दिया। सुरजन ने इसकी सूचना सम्राट को दी। दिल्ली की ओर भागता हुआ सम्राट पुन लौट पड़ा, राजपूत फिर लड़े। किन्तु सबके सब मैहमाशाह के साथ रण भूमि मे सो गये। रण भूमि में भी मैहमाशाह की लाश राजपूतों की लाश के नीचे थी।



# वचन के लिए

स्पेन देश का एक छोटा सा गांव। गांव के मध्य में था, एक बग़ीचा। बग़ीचे में तरह तरह के फूल-पौधे लगे हुये थे। बग़ीचे का स्वामी उन्हें प्यार करता, हृदय से, प्राणों से। प्रति दिन उन्हे अपने हाथों से संवारता, पानी देता और भोजन देता। वे भी अपने स्वामी पर प्रसन्न होकर उसे फल-पुष्पों के रूप में सुन्दर भेट प्रदान करते।

एक दिन संध्या का समय था। सूर्य की किरणें धीरे-धीरे अन्धकार के समुद्र में डूबती जा रही थीं। बग़ीचे का स्वामी, जो मूर जाति का था, बग़ीचे में टहल रहा था, फूलों की टह नियो को छू छूकर उनसे उनका दुख-सुख पूछ रहा था। सहसा एक मनुष्य ने बग़ीचे में प्रवेश किया। उसने बग़ीचे के स्वामी के चरणों पर गिर कर कहा, "मेरी रक्षा कीजिये। मैने मूर जाति के एक युवक का वध किया है। लोग मुझे गिरफ्तार करना चाहते हैं। मुझे बचाइये!"

बग़ीचे का स्वामी आश्चर्य-चकित होकर उस व्यक्ति की ओर देखने लगा। वह थर थर कांप रहा था, और कर रही थीं, आँखें भीख की याचना। बग़ीचे के स्वामी को दया आगई। उसने उसे बगीचे में बने हुये घर के एक कमरे में

छिपा लिया, और कहा, "रात को मैं यहाँ आकर कमरे का ताला खोल दूंगा, और तुम अंधकार में छिप कर भाग जाना !"

वगीचे का स्वामी उस व्यक्ति को कमरे में वन्द करके घर गया। रात कुछ अधिक वीत गई थी। उसकी स्त्री ने कहा, अभी तक लड़का नहीं आया। दिन रहते ही घर से निकला था, और अब तक न जाने कहां है ?

'आता ही होगा !—गृह स्वामी ने उपेक्षा के साथ उत्तर दिया।

अभी उसकी वात समाप्त भी न होने पाई थी, कि गांव के तीन चार व्यक्ति एक युवक का शव लिये हुये उसके द्वार पर आये, और गृह स्वामी को वुलाकर शव उसके सामने रख दिया।

गृहस्वामी ने प्रकाश मे उस शव को देखा। वह उसका एक मात्र पुत्र था। वह तड़प कर उस पर गिर पड़ा, और करने लगा आर्तनाद। उसकी स्त्री भी वाहर निकल आई। सामने युवक पुत्र का शव। उसके अन्तर का कोना कोना चीत्कार कर उठा। वह मूर्छित होकर गिर पड़ी भूमि पर। एक ही पुत्र था, आंखो की ज्योति था।

स्त्री को लोग सँभालने लगे, गृह स्वामी को सान्त्वना देने लगे। गृह स्वामी ने रोते-रोते कहा, किन्तु समझ मे नहीं आता, यह कैसे मरा ? शरीर पर घाव के भी चिन्ह तो नही हैं। वगीचा जाने के पूर्व मै इसे विल्कुल स्वस्थ छोड़ कर गया था। फिर हो क्या गया इसे ?

गांव के एक मनुष्य ने सामने आकर कहा, 'मैंने अपनी आंखों से देखा है। गांव के बाहर मैदान मे स्पेनिश केवेलियर फिर्के का एक व्यक्ति इसे पटक कर इसकी छाती पर बैठा हुआ था, और दोनों हाथों से घोंट रहा था इसका गला। मैं जब तक इसके पास पहुँचा, वह उठकर भाग गया!"

'स्पेनिश केवेलियर फिर्के का मनुष्य!—गृह स्वामी ने आश्चर्य-चकित होकर पूछा।

"हाँ केवेलियर फिर्के का मनुष्य!—उस व्यक्ति ने उत्तर दिया—उसी ने इसका गला घोंटकर इसे मार डाला है। मैंने कुछ दूर तक उसका पीछा भी किया था!"

'क्या तुम बता सकते हो, वह किस ढङ्ग का था?—गृह स्वामी ने पूछा।

'हाँ हाँ क्यों नहीं—उस व्यक्ति ने उत्तर दिया—वह लम्बा सा था। सिर खुला था, और एक कोट पहने हुये था।'

गृह स्वामी चुप हो गया। उसकी समझ मे आगया कि अपराधी कौन है? वही जिसको उसने अपने बगीचे में छिपाया था।

उसने अपने हृदय को सँभाला, प्राणों को साहस प्रदान किया और अर्द्धरात्रि के पूर्व ही कर दी, उसकी अन्त्येष्टि क्रिया।

अर्द्ध रात्रि का समय था। गांव के सभी लोग अपने अपने घर में सो रहे थे। पर गृह-स्वामी और उसकी स्त्री की आँखों

में नींद कहाँ! उनकी आँखें निकाल ली गई थीं न! गृह-स्वामी ने स्त्री से कहा, "तू यहीं रह। मैं बगीचे में जा रहा हूँ। आज की रात वहीं बिताऊँगा!"

'इतनी रात को और बगीचे में!—स्त्री ने आश्चर्य से कहा—मैं भी चलूँगी तुम्हारे साथ। यहाँ अकेले मुझे भय ज्ञात होगा।'

'चल सकती हो!—गृह स्वामी ने कहा—किन्तु एक शर्त पर।'

स्त्री को आश्चर्य हुआ। किन्तु उसने अपने मन के आश्चर्य को दबा कर पूछा, "कौन सी शर्त!"

'तुम्हें चुप रहना पड़ेगा,—गृह स्वामी ने कहा।

एक भेद, एक रहस्य! स्त्री के मनमें एक कौतूहल हुआ। उसने अपने स्वामी की बात स्वीकार करली और चल पड़ी उसके पीछे, पीछे। गृह स्वामी ने बगीचे में जाकर कमरे का ताला खोल दिया। अपराधी बाहर निकल आया।

गृहस्वामी ने कहा, "दुष्ट! तुमने जिसकी हत्या की है, वह मेरा पुत्र था।"

अपराधी काँप उठा। उसकी आँखो के सामने अंधेरा छा गया। उसने सोचा, 'अब तो मै पकड़ा गया, और फिर पकड़े जाने पर प्राण दण्ड।'

गृह स्वामी ने कहा, 'किन्तु तुम आकुल न हो। मैंने तुम्हे जो वचन दिया है. मै उसका पालन करूँगा। दूसरे कमरे में

खच्चर बँधे हैं। तू एक खच्चर की पीठ पर सवार होकर रात ही रात यहाँ से भाग जा।"

अपराधी का मस्तक नत हो गया। वह धीरे धीरे उस दूसरे कमरे में खच्चर लाने के लिये गया। वह अभी खच्चर छोड़ ही रहा था, कि गृह-स्वामी की स्त्री बोल उठी, 'इसने मेरे पुत्र की हत्या की है, मैं इसे न जाने दूँगी।'

'किन्तु तुमने मुझे वचन दिया है चुप रहने का'—गृह स्वामी ने कहा।

'मैं विवश हूँ—स्त्री ने उत्तर दिया-माता की आँखों के सामने पुत्र का हत्याकारी और वह उसे यों ही जाने दे, यह नहीं हो सकता; मैं इसे पकड़वा दूँगी, शूली पर लटकवा दूंगी।'

तू भूलती है—गृह-स्वामी ने कहा-तुझे पछताना होगा।

कुछ भी हो—स्त्रीने उत्तर दिया।

अपराधी खच्चर पर बैठ कर जाने ही वाला था, कि स्त्री चिल्ला उठी।। चारों ओर से लोग दौड़ पड़े। अपराधी पकड़ लिया गया, किन्तु साथ ही लोगों ने देखा, गृह स्वामी का खून से लथपथ शरीर भूमि पर पड़ा है। उसने अपने आप अपने पेट में छुरा मार लिया था। स्त्री अब सचमुच पछता रही थी। मन ही मन अपने को कोस रही थी; किन्तु चुप थी। मानों गूँगी बन गई हो।



# दूसरों के लिये

रात का समय था। युद्ध क्षेत्र मे सैनिक सो रहे थे; किन्तु वह दे रहा था, पहरा। उसे पहरे का ही काम सौंपा गया था। युवक था, जीवन, और जागृति से परिपूर्ण था। किन्तु दिन भर काम करते करते थक गया था। एक स्थान पर वन्दूक रख कर सो गया। कितनी भयङ्कर थी यह भूल ! सिर पर शत्रु और पहरेदार गाढ़ी नींद में। क्षण मात्र मे क्या से क्या हो सकता था ?

संयोग की वात ! पहरे का निरीक्षक घूमता-घूमता उसी ओर आ पहुँचा। युवक सो रहा था। निरीक्षक ने उसकी वन्दूक हाथ में ले ली, और फिर कहा, वेन जामिन ओवन ! तू सो रहा है।

युवक का नाम वेन जामिन ओवन था। वह एक किसान का पुत्र था। वह शीघ्रता से उठ कर खड़ा हो गया। सामने निरीक्षक। किन्तु भय नहीं, आकुलता नहीं। जैसे कुछ हुआ ही न हो। निरीक्षक की आंखों मे क्रोध वरस पड़ा। उसने कहा, 'तेरी इस भूल से आज लाखों व्यक्ति अव तक मृत्यु के मुख मे पहुँच गये होते।'

युवक का सिर नत हो उठा। किन्तु वह मौन रहा।

दूसरे दिन युवक फौजी अदालत में विचारपति के सामने था। विचारपति ने सारी वाते सुन कर न्याय किया, युवक को चौवीस घन्टे मे गोली मार दी जाय !

सारी सेना में एक हलचल-सी मच गई। युवक के लिये प्रत्येक के मन में पीड़ा उत्पन्न हो उठी। वह साहसी था, सच्चरित्र था, और था अपने देश पर प्राण देने वाला, किन्तु युवक के मन में न दुख, न पीड़ा। वह निश्चिन्त रहा, अविचल रहा। उसने सेनापति से प्रार्थना की, गोली से मरने के पूर्व मैं अपने पिता को एक पत्र लिखने की आज्ञा चाहता हूँ !

सेनापति ने आज्ञा दे दी।

युवक पत्र लिखने लगा—

'मुझे मृत्यु का भय नहीं है। मैंने सोचा था, मातृभूमि के लिये संग्राम में लड़कर मरूंगा। किन्तु दुःख है, कि पहरे में सो जाने के कारण अब कुत्ते की मौत मरूंगा। मरने के पूर्व मैं आपको वास्तविक बात बता देना चाहता हूँ, जिससे आप यह न समझें, कि मैंने आपके नाम को कलंकित किया। आपको ज्ञात होगा, कि मैंने जे० सी० कार की माता से प्रतिज्ञा की थी, मैं उसकी देख-भाल करूंगा। वह इधर बीमार था। जब सेना में लौटकर आया, उस समय भी बीमारी के कारण अशक्त ही था। घटना के एक दिन पूर्व मैंने अपने सामान के अतिरिक्त उसका भी सामान पीठ पर लाद कर मार्च किया था। सभी सिपाही अधिक परिश्रान्त थे। जे० सी० कार तो इतना थक गया था कि यदि मैं मार्ग में उसे सहारा न देता तो वह मार्ग ही में रह जाता। कैम्प में पहुँचने पर हम सब अधिक परिश्रान्त हो चुके थे। मैंने उसके पहरे का बोझ अपने सिर पर ले लिया।

थका तो था ही, सो गया। मुझे पत्र लिखने का अवसर दिया गया है। इसीलिये पत्र लिख रहा हूँ। कर्नल अपने कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है। वह मुझे बचाने मे विवश है। आप कर्नल और जे० सी० कार के प्रति अपने हृदय मे बुरी भावना न लाइयेगा। जे० सी० कार का हृदय टूक-टूक होगया है। वह जगह-जगह कहता फिरता है, कि मेरी जगह उसे गोली मार दी जाय। बहन को शान्ति देना। उससे कहना, कि तुम्हारा भाई वीरो की मौत मर रहा है!'

पत्र बेन जामिन के घर पहुँचा। द्वार पर थी, उसकी छोटी बहन। उसने पत्र वाहक से पत्र ले लिया। पत्र पिता के नाम था। वह उसे लेकर दौड़ी-दौड़ी पिता के पास गई, और कहने लगी, 'पिता जी भैया का पत्र आया है।'

पिता ने पत्र खोला। पढ़ते ही उसका हृदय तड़प उठा। पत्र हाथ से छूट कर भूमि पर गिर पड़ा, और बहने लगी, आंखो से अश्रुधारा। लड़की ने पूछा, क्या है पिता जी, भैय्या कुशल से तो है!

पिता उसकी बातो का क्या उत्तर दे? उसका हृदय तो टूक-टूक होता जा रहा था। वह कुछ न बोला। लड़की ने धीरे से झुक कर पत्र उठा लिया। वह पत्र पढ़ने लगी। पत्र पढ़ कर उसकी भी आंखो से आँसू आगये। किन्तु साथ ही वह विचार-मग्न होगई. मन ही मन कुछ सोचने लगी।

रात का समय था। लड़की बिना किसी से कुछ कहे ही

पत्र लेकर घर से निकल पड़ी। कुछ ही देर के पश्चात् वह डाक गाड़ी पर बैठी हुई थी, और जा रही थी न्यूयार्क में अब्राहिम लिंकन के पास।

न्यूयार्क में अब्राहिम लिंकन का भवन। अबोध बालिका जाकर द्वार पर खड़ी होगई। सेवक ने सूचना दी, 'श्रीमान' एक छोटी सी लड़की आपसे मिलना चाहती है।'

सरल हृदय, दयालु, अब्राहिम लिंकन स्वयं बाहर निकल आये। उन्होंने प्रेम प्रगट करते हुये लड़की से पूछा, "तू क्या चाहती है ?"

अबोध बालिका बोल उठी, 'मेरे भाई को बचाइये। चौबीस घंटे में उसे गोली मार दी जायगी।'

अब्राहिम लिंकन को इसके पूर्व ही इस घटना की खबर मिल चुकी थी। उन्होंने उत्तर रूप मे कहा, 'तुम्हारे भाई ने बड़ी भूल की है। उसकी इस असावधानी से लाखों सैनिक मृत्यु के मुख में चले गये होते।'

बालिका ने कहा, 'मेरे भाई ने जो असावधानी की है, वह जान-बूझ कर नहीं की है। उसने दूसरों के लिये कष्ट उठाया था। दूसरों के सुख के लिये कष्ट उठाने ही के कारण वह अधिक थक गया था। इसीलिये रात में पहरा देते समय सो गया।'

अब्राहिम लिंकन विचार-मग्न हो गये। कुछ देर के पश्चात् बोले, 'तुम्हारी इस बात का प्रमाण क्या है लड़की !'

लड़की ने कोट की जेब से पत्र निकाल कर लिंकन को दे दिया। लिंकन ने पत्र पढ़ कर लड़की से कहा, 'बेटी! अब तू अपने घर लौट जा। अपने पिता से कहना, कि उसके पुत्र की देश को अभी बहुत आवश्यकता है। देश के ऐसे युवक यदि गोली से मार दिये जायँगे, तो फिर देश मे रहेगा कौन ?'

लड़की लौटकर अपने घर चली गयी। लिंकन ने शीघ्र ही रण-क्षेत्र में आज्ञा-पत्र भेजा, 'बेन जामिन का अपराध क्षमा किया जाता है। उसे चाहिये कि वह शीघ्र न्यूयार्क आये।'

दूसरे दिन प्रातःकाल बेन जामिन न्यूयार्क मे प्रेसिडेण्ट लिंकन के सामने था, और लिंकन उसके कन्धे पर लेफ्टिनेण्ट का पद-चिन्ह बाँधते हुये कह रहे थे, "जो सैनिक दूसरो के सुख के लिये कष्ट सहता है, और बिना किसी प्रकार की शिकायत किये हुये ही मरने के लिये तैयार हो जाता है, वह देश का वास्तविक कल्याण चाहता है।"

धन्य है युवक का साहस, और लिंकन का सौजन्य!



# पितृ-भक्त

बात बहुत दिनों की है। उन दिनों की, जब मुर्शिदाबाद में थी बंगाल की राजधानी। बंगाल का ऐश्वर्य, बंगाल का वैभव, और बंगाल की राज्य लक्ष्मी उन दिनों बसती थी मुर्शिदाबाद में। राज सिंहासन पर आसीन था सरफराज खाँ। वही मुर्शिदाबाद का नवाब था, बंगाल का स्वत्वाधिकारी था।

उसी नवाब सरफराज खाँ का एक सेनापति था। नाम था, विजय सिंह। विजय सिंह, क्षत्रिय थे, वीर थे, स्वाभिमानी थे। उनके पूर्व पुरुषों ने जननी जन्मभूमि के लिये अपने रक्त का दान दिया था। उन्हीं का रक्त विजय सिंह की रगों में भी लहरा रहा था, प्रवाहित हो रहा था।

विजय सिंह वास्तव में विजयी सिंह के सदृश थे। समर भूमि में उनके समान कोई वीरत्व न दिखला सकता। वे सबसे आगे रहते, शत्रुओं के मन को भी आश्चर्य में डाल देते। इसके अतिरिक्त उनमें एक और भी बड़ा गुण था—प्रभु-भक्ति का। नवाब के लिये सदैव अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिये तैयार रहते। कई बार वे अपने प्राणों को संकट में डाल कर नवाब को युद्ध-क्षेत्र से बचा लाये थे। इसीलिये तो नवाब उन्हें अपने अन्तर में छिपा कर रखता था।

विजय सिंह का एक पुत्र था, बिल्कुल देव-शिशु के सदृश सुन्दर। साहस और शक्ति उसकी आकृति पर खेलती थी। आँखों से टपकती थी, करुणा। स्वाभिमान रग-रग मे बसा हुआ था। कोई अपमान की बात करता, तो करुणा का आवरण धारण करने वाली आँखे चट लाल हो जाती और उगलने लगतीं अंगार; किन्तु जन्म हुआ था, उसका अत्यन्त संकट के के समय में। उस समय मे, जब विजय सिंह निराश्रित थे, और थे भिखारी के सदृश।

उन दिनो विजय सिंह आश्रय-शून्य भिखारी की भाँति दर दर भटक रहे थे। यदि चाहते तो विनय-प्रार्थना करके कही न कही आश्रय खोज लेते, किन्तु वे राजपूत थे, स्वाभिमानी थे। उन्होंने निश्चय किया, 'भिखारी के रूप मे दर-दर भटकूँगा, दाने-दाने के लिये मरूँगा, किन्तु दूसरों के सामने मस्तक न झुकाऊँगा। पेट के लिये दूसरो के सामने मस्तक झुकाने से अच्छा तो मृत्यु है। मै भी मृत्यु का अनुसन्धान करूँगा, स्वाभिमान से मस्तक को ऊँचा करके उसे अपने पास बुलाऊँगा।"

विजय सिंह भटकने लगे। उनके साथ मे थी, उनकी जीवन सहचरी।

दो-तीन दिन से खाने के लिये एक मुट्ठी अन्न भी न मिला था। एक पर्वत के ऊपर झरना के किनारे विजय सिंह बैठे थे। उनकी गोद मे मस्तक रख कर सोई हुई थी, जीवन-सहचरी। अस्वस्थ, रोगों से घिरी हुई। विजय सिंह का मन रो उठा। जीवन मे यह

पहला दिन जब उनके मन ने अधीरता का अनुभव किया था। रोगा-क्रान्त जीवन-सहचरी को दुःख न हो, अतः उन्होंने अपने को संभाला। आँखों के उमड़े हुये आँसू को भीतर ही भीतर सुखा कर सूनी आँखों से स्त्री की ओर देखा।

जीवन-संगिनी धीरे-धीरे साथ छोड़ रही थी। उसने अपने गोद के रत्न को सौंपते हुये कहा, 'इसे सँभालो। मैं अब जाती हूँ।'

उसने आँखें बन्द कर लीं। विजय सिंह का हृदय चीत्कार कर उठा, किन्तु उन्होंने देखा, उस जगमगाते हुये रत्न की ओर। सारी वियोग-वेदना विस्मृत हो उठी। वन-पुष्प की भाँति सुन्दर वह शिशु। उनके मुख से निकल पड़ा, 'भगवन्! दुःख की इस भयानक वेला में इस स्वर्ग-शिशु को मेरे पास किस लिये भेजा? यह माता के अभाव में जगत के भयानक और निष्ठुर दुःखों को कैसे सह सकेगा, उनके असह्य भार को कैसे अपने ऊपर उठा सकेगा?'

विजय सिंह ने वन से लकड़ियाँ लाकर सहधर्मिणी की चिता जलादी। चिता जलने लगी। विजय सिंह बच्चे को गोद में लेकर चिता की ओर देखने लगे। चिता जलकर राख हो गई, किन्तु विजय सिंह के मन में अभी स्त्री की स्मृति बराबर ज्यों की त्यों बनी ही रह गई। विजय सिंह ने अपने पुत्र का नाम रक्खा, जालिमसिंह।

शिशु जालिम को लेकर विजय देश-देश में परिभ्रमण करने लगे। मार्ग में विपत्तियो और वाधाओं की काँटेदार झाड़ियाँ! विजय सब को साहस के साथ लाँघते जा रहे थे, पार करते जा रहे थे। दिनों के साथ ही साथ जालिम भी धीरे-धीरे वढ़ रहा था। विजय उसे सिखाते थे, 'शरीर क्षणभंगुर है। संसार भी क्षणभगुर है। मनुष्य को अपना कर्त्तव्य करना चाहिये, कर्त्तव्य। पिता के इस मत्र को शिशु लिखता जाता था, अपने मन पर अपने हृदय-पटल पर। वालकपन ही में वह भली भाँति समझ गया कि वीरता उसका जीवन है, और कर्त्तव्य पालन है उसका धर्म।

विजय सिंह के भाग्य ने फिर पलटा न खाया। आँखो के सामने था, सुकमार जालिम का भावी जीवन। विजय ने विवश होकर नवाव के सेनापति का पद स्वीकार कर लिया; किन्तु कभी नवाव के सामने मस्तक न झुकाया, अपने सम्मान को न वेचा।

एक दिन रात्रि का समय था। विजय ने सकरुण स्वर मे जालिम से कहा, 'वेटा जालिम! तुम्हारा दुखी वाप तुमसे एक वस्तु चाहता है। क्या दे सकोगे?"

जालिम आँखो मे आश्चर्य भर कर विजय की ओर देखने लगा।

विजय ने पुनः उसी स्वर मे कहा, 'वोलो वेटा, जालिम चुप क्यों हो? कुछ भी तो उत्तर दो, हाँ या ना।'

जालिम पिता के चरणों पर गिर पड़ा। कहने लगा, 'आप इस बात को कह कर क्यों हमें दुखी कर रहे हैं पिता जी! यह शरीर आपका है, मन आपका है, हृदय आपका है। आप जो आज्ञा देंगे, उसका मैं सहर्ष पालन करूंगा।'

"अच्छा बेटा, तो यह प्रतिज्ञा करो—विजय ने कहा—आत्म अपमान कभी सहन न करूंगा, और उसके लिये जीवन तक उत्सर्ग कर दूँगा!"

ऊपर था आकाश, नीचे थी पृथ्वी। जालिम ने दोनों को सम्बोधित करके कहा, 'आत्म अपमान कभी सहन न करूंगा, और उसके लिये जीवन तक इत्सर्ग कर दूगा!'

विजय ने जालिम को गोद में लेकर आंखे बन्द कर लीं। आँखों से गिरने लगे, आनन्द और सन्तोष के आंसू। उन आँसुओं का रहस्य एक वीर राजपूत को छोड़कर संसार में दूसरा जान ही कौन सकता है?

इन्हीं दिनों देश में बज पड़े युद्ध के बाजे। पटना के नवाब अलीवर्दी खाँ ने एक बड़ी सेना लेकर मुर्शिदाबाद पर आक्रमण कर दिया। सराफराज खाँ की सेना भी सामने जा भिड़ी। जालिम सदैव पिता के साथ ही रहता। युद्ध के दिनों में भी वह अपने पिता के साथ ही रहा करता था। इस बार भी वह अपनी छोटी सी तलवार लेकर दर्प से घोड़े की पीठ पर जा बैठा, और चल पड़ा, अपने पिता के साथ साथ युद्ध की ओर। युद्धभूमि में जाने के पूर्व पिता ने एक बार उसे अपनी छाती से

लगा कर चूमा था। कौन जाने, युद्ध के पश्चात् पिता-पुत्र एक दूसरे को देख सके या न देख सके! जालिम की आँखें भी यही सोच कर सजल हो उठी थीं, किन्तु कानों मे पड़ रहे थे, युद्ध के बाजे, और उसी के द्वारा कर रही थी युद्धभूमि आवाहन। पिता पुत्र, दोनों ममता की बेड़ियों को काट कर उसी ओर दौड़ पड़े, आँधी की तरह, बिजली की भाँति।

गिरिया का सुविस्तृत मैदान। दोनों ओर की सेनायें आमने-सामने डट गईं। ऊपर अन्त हीन नीला आकाश, नीचे सुविस्तृत हरित मैदान। मध्य में गंगा जी की उज्वल धारा। किनारे किनारे फल पुष्पों से लदी हुई वृक्षों की पंक्तियाँ। उन्हीं पर कर रहे थे, अनेक प्रकार के पक्षी कल गान। अपूर्व दृश्य था। आशा नहीं थी, यहाँ रक्त पात होगा, एक मनुष्य दूसरे का गला काटेगा, किन्तु वहीं युद्ध हो रहा था, युद्ध के बाजे बज रहे थे। पक्षी उड़ते फिर रहे थे, पृथ्वी लाल होती जा रही थी। देखने वाले आश्चर्य करते थे, पर वीरों की तलवारें चलती ही जा रही थीं।

जालिम अपने पिता के साथ था। वह भी अपनी तलवार चमका रहा था, शत्रुओं को धराशायी कर रहा था। एक छोटे से बालक में इतनी वीरता! शत्रु दांतों तले उँगुली दबाते थे।

विजय सिंह को विजय की आशा थी। वे असीम साहसी थे, असीम शक्तिशाली थे; किन्तु उधर थी अधिक सुशिक्षित

सेना। उस पर विजय प्राप्त करना कठिन था, अधिक कठिन। अलीवर्दी खाँ स्वयं उसका संचालन कर रहे थे। उसके समान वीर और सहृदय नवाब इतिहास के पन्नों में बहुत कम मिलते हैं।

जालिम को ज्ञात हो गया, इस बार युद्ध-क्षेत्र से पिता को न ले जा सकूँगा। उसका हृदय कम्पित हो उठा, प्राणों में व्याकुलता नाच गई, किन्तु वीर था, वीर की सन्तान था। अपने को सँभाल कर पुनः युद्ध करने लगा।

विजय ने कहा, 'बेटा जालिम, यदि मैं युद्ध क्षेत्र में काम आऊँ, तो देखना विधर्मी मेरे शव को नष्ट न करने पावें।' जालिम ने सजल आँखों से विजय की ओर देखा। विजय प्रलय की भाँति शत्रु का संहार कर रहे थे। जालिम भी चुप चाप उसी में योग देने लगा, उनकी सहायता करने लगा।

सन्ध्या का समय था। आकाश लाल हो उठा था। पृथ्वी भी लाल थी। ऐसा ज्ञात होता था, मानों नीचे से लेकर ऊपर तक लाल सागर लहरा रहा हो। युद्ध चल रहा था। सहसा शत्रु की तलवार से आहत होकर विजय भूमि पर गिर पड़े और हो गये, प्राण शून्य। जालिम झट घोड़े से कूद कर पिता के शव के पास खड़ा होगया। उस समय उसके मन में थी पिता की वह बात, 'देखो मरने पर विधर्मी मेरे शव को नष्ट न करने पायें।'

जालिम अपनी छोटी-सी तलवार लेकर पिता के शव के पास खड़ा होगया। दल के दल में शत्रु-सैनिक दौड़ पड़े, उसी ओर। जालिम वीरता से युद्ध करने लगा, पिता के शव के लिये प्राणों की बाज़ी लगाने लगा।

अलीवर्दी खाँ वीर थे, और करना जानते थे, वीरो का सम्मान। दूर से जब उन्होंने यह दृश्य देखा, तब उनका हृदय भर आया। वे घोड़ा दौड़ाते हुये तत्क्षण वहाँ जा पहुँचे। उन्होने घोड़े से कूद कर जालिम को प्यार से गोद मे उठा लिया और सैनिको को आदेश दिया, 'विजय सिंह के शव को कोई स्पर्श न करे।'

गंगा जी के तट पर सजाई गई चन्दन की चिता। जालिम ने चार ब्राह्मणों की सहायता से पिता के शव को चिता पर रख कर आग लगा दी। चिता प्रज्वलित हो उठी। जालिम एक टक देखने लगा। उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों उसके वीर पिता ज्योतिर्मय रथ पर चढ़ कर स्वर्ग की यात्रा कर रहे है।

जालिम ने भी अपने पिता का मंत्र ग्रहण किया था। उसने भी कभी किसी के सामने अपना मस्तक नही झुकाया। वह अपने देश के लिये, अपनी मातृभूमि के लिये सदैव प्राणों को त्सर्ग करने के लिये तैयार रहता था। उसे आत्म सम्मान प्यारा था। वह सुख को ठुकरा कर उसे खोजता फिरता था।

इसी लिये लोग कहते फिरते थे कि जालिम शरीर और मन
दोनों से राजपूत है, राजपूत की सन्तान है।

जालिम की वीरता किसी को नहीं भूलती। एक दि
गिरिया के समर-क्षेत्र में उसने जो वीरता दिखाई थ
आज भी वह कीर्तिसंगीत के रूप में लोगों के मुख से गू
रही है। आज भी उस मैदान को लोग कहते हैं; जालि
सिंह का मैदान।



# सौन्दर्य का पारखी

मथुरा नगरी में उसकी एक छोटी सी दूकान थी, बहुत छोटी सी। कुछ थोड़ी सी आवश्यक वस्तुयें रक्खी रहतीं। कदाचित ही कभी दो चार से अधिक ग्राहक आते हों ग्राहक आते हों या न आते हों, किन्तु उस ओर से निकलने वाले अधिकांश व्यक्ति उसे सहानुभूति की दृष्टि से देखते थे। कभी कभी किसी के मुख से 'आह' के साथ यह एक बात भी निकल जाती, 'एक दिन वह था, और एक दिन यह! महल झोपड़ा बन गया, थोड़े ही दिनों में, अभी देखते देखते!'

पर दूकान के मालिक को इसकी चिन्ता ही नहीं थी। वह सुख दुख की सीमा को पार करने वाला मनुष्यों मे देवता था। उसने पहले राजमहल देखा था और अब झोपड़ा भी देखा। सोने चाँदी के चमकदार बरतनो ने कभी उसकी आँखों मे झलक पैदा की थी, किन्तु अब तो काली और सूनी हाँडियो का ही उसकी आँखों के सामने राज्य है। पर पहले जैसा उसका मन था, वैसा ही अब भी है। पहले ही की भाँति वह अब भी मनुष्यो की सेवा करता। कौड़ी कौड़ी के लिये मुहताज रहता; किन्तु अपनी मानवता का परित्याग न करता। वही, वही, मथुरा का श्रेष्ठी उपगुप्त, जिसके जीवन की सुन्दर कहानियाँ

आज भी इतिहास के पन्नों पर उगते हुये सूर्य की सुनहरी किरणों की भाँति खेल रही हैं।

सन्ध्या का समय था। सुन्दर और वलिष्ठ शरीर में असरड यौवन को छिपाये हुये उपगुप्त अपनी दूकान पर बैठ कर कुछ हिसाब-किताब कर रहा था। आकृति पर सत्य की ज्योति, आंखें में मानवता का उन्माद! जो मानवता के गुणों से चमकते हुये इस युवक को देखता, वही कुछ खो-सा जाता था! सचमुच वह दैवत्त की मूर्ति था, पृथ्वी रात का उज्वल नक्षत्र था!

आने जाने वाले सड़क से आ जा रहे थे। कई मनुष्यों ने उपगुप्त की दूकान के सामने रुक कर उसे प्रणाम किया। दो चार भिखारी भी आये, और उपगुप्त से कुछ न कुछ पाकर चले गये। उपगुप्त कभी किसी को निराश न करता। वह स्वयं न खाता, किन्तु दूसरों को अवश्य खिलाता था। वह भूखा रह जाता था, किन्तु किसी न किसी प्रकार सहानुभूति और करुण के धर्म का अवश्य पालन करता था।

उपगुप्त अभी एक भिखारी को भिक्षा देकर अपने स्थान प वैठा ही था, कि उसकी दृष्टि सामने सड़क की पटरी पर पड़ी। उसने देखा, सौन्दर्य से लसी हुई एक अद्भुत रमणी व चाह से उसी की ओर देख रही है। उपगुप्त उसकी ओर दृष्टि फेक कर पुन. अपने काम में लग गया।

रमणी सड़क की उस पटरी से जब आगे चली, तब उ हृदय में एक काँटा सा चुभा हुआ था। वह अपने मन में,

हृदय मे, अपने अन्तर के कोने कोने मे जहाँ भी देखती, उपगुप्त को ही पाती। उसका मन लुट गया था, प्राण बिक गये थे। वह खोई हुई-सी घर पर लौटी। उसे अपनी सुन्दरता का अधिक अभिमान था। पर आज उसका सारा अभिमान उपगुप्त के चरणों पर लोटने के लिये आकुल हो रहा था।

वह रमणी थी, एक सुप्रसिद्ध वेश्या। नाम उसका वासवदत्ता था। वह रूप और वैभव की रानी थी। बड़े बड़े राजा, बड़े-बड़े सेठ, उसकी छाया तक के लिये तरसते थे, प्राण देते थे। हजारो लाखों उसके लिये आंखें बिछाये रहते थे। किन्तु उसे किसी की चिन्ता न थी। वह रूप और यौवन के मद मे इठलाती चली जा रही थी। पर उपगुप्त के सुगठित शरीर ने उसे रोक लिया। उसका सारा अभिमान चूर चूर होगया। वह उपगुप्त के लिये आकुल हो उठी, बहुत ही आकुल !

रात का समय था। वासवदत्ता आकुलता के साथ करवटें बदल रही थी। उसे अपने हृदय मे और हृदय के बाहर चारों ओर उपगुप्त ही की आकृति दिखाई दे रही थी। उसके विषयी मन मे रह-रह कर उपगुप्त के लिये भीषण उफान उत्पन्न हो रहा था। जब उसके मन में किसी प्रकार से सन्तोष न हुआ तब वह उठकर चारपाई पर बैठ गई, और लिखने लगी उपगुप्त को पत्र। उसने पत्र मे लिखा:—

'प्यारे उपगुप्त, मथुरा की प्रसिद्ध वेस्या, वासवदत्ता तुम्हारे

चरणों की चेरी बनना चाहती है। आओ एक बार आओ। मेरा सारा धन, सारा ऐश्वर्य तुम्हारे लिये है, तुम्हारे लिये !'

सवेरा होते ही वासवदत्ता ने दासी के हाथ पत्र भेज दिया। उधर उपगुप्त को इसकी क्या खबर ? उसे क्या पता, कि वह किसी के विषयी मन में काँटा बन कर चुभा हुआ है। वह अभी भगवान गौतम की आराधना करके उठा ही था, कि दासी ने जाकर उसके हाथ पर पत्र रख दिया। वह पत्र खोल कर एक ही सांस में पढ़ गया। उसकी आकृति पर दुख और आश्चर्य के भाव ! वह कुछ देर तक मन ही मन सोचता रहा। फिर उसने कहा, 'दासी ! जाकर वासवदत्ता से कह दे, उपगुप्त कंकड़ों के लिये हीरों को ठोकर नहीं मार सकता। मेरे लिये वासवदत्ता का धन, उसका ऐश्वर्य, उसका रूप सचमुच कंकड़ों के ही सदृश है दासी ! मुझे वह सब कुछ न चाहिये, मैं अपनी इस गरीबी में ही महा आनन्द का उपभोग कर रहा हूँ !'

पर वासवदत्ता के मन में शान्ति कहां, सन्तोष कहां ? उपगुप्त के लिये तो उसकी व्याकुलता क्षण-क्षण पर तूफानी समुद्र की भांति बाढ़ मार रही थी। दासी के द्वारा उपगुप्त का सूखा उत्तर ! वासवदत्ता विक्षिप्त सी बन गई, और स्वयं दौड़ती हुई उपगुप्त के पास जाकर उसके चरणों पर लोटने लगी।

आखिर तु चाहती क्या है वासवदत्ता !—उपगुप्त ने उसे उठाते हुये कहा !

वासवदत्ता ने प्यास भरे नेत्रों से उपगुप्त की ओर देखा। वह कुछ देर तक उसे उसी प्रकार देखती रही। उसकी वे आंखे! उनमे वासना थी, किसी को पाने की चाह थी। कुछ देर के पश्चात आह की एक लम्बी सांस लेकर बोल उठी, 'कैसे बताऊँ उपगुप्त, क्या चाहती हूँ? देखो, एक बार मेरी आंखों की ओर देखो! फिर तुम्हे मालूम हो जायगा, कि मै तुमसे क्या चाहती हूँ?'

'देख रहा हूँ वासवदत्ता तुम्हारी आंखों की ओर!—उपगुप्त ने उत्तर दिया—तुम्हारी आंखे वासना की आग जला कर मेरा इन्तज़ार कर रही हैं। पर वासवदत्ता, वे दूसरे ही पतिंगे होंगे, जो इस प्रकार की वासना की आग मे जलते होगे! मेरे लिये यह असंभव है, बहुत असंभव!'

ऐसा न कहो उपगुप्त!—वासवदत्ता ने उसकी ओर देख कर कहा—मेरी ओर देखो, मेरे रूप और सौन्दर्य को देखो। बड़े-बड़े राजा जिस पर अपने प्राण देते हैं, वही आज तुम्हारे द्वार पर तुम्हारे चरणों पर लोट रहा है।

पर मुझे तो तुम्हारे शरीर में कुछ भी सौन्दर्य नहीं दिखाई दे रहा है वासवदत्ता!—उपगुप्त ने कहा—यदि तुम्हारे शरीर मे सचमुच सौन्दय होता तो मै तुम्हारे प्रेम को स्वीकार भी कर लेता।

वासवदत्ता आंखे फाड़ कर उपगुप्त की ओर देखने लगी।

उपगुप्त उसकी मतवाली आंखों के सम्मुख भी वज्र-शिला की भांति निश्चल रूप से स्थिर था।

'तो क्या मुझमें सचमुच सौन्दर्य नहीं है उपगुप्त !'

"मुझे तो नहीं दिखाई देता वासवदत्ता !'

"सौन्दर्य न सही, मेरे पास वैभव और ऐश्वर्य तो है ! क्या तुझे उसका बिलकुल मोह नहीं है ?"

"बिल्कुल नहीं वासवदत्ता, बिलकुल नहीं। देख न रही हो, मेरा टूटा मकान। यही मेरा राजमहल है। मैं इसी की गोद में सुख और सन्तोष की नींद सोता हूँ। मुझे न चाहिये तुम्हारा वैभव, न चाहिये तुम्हारा ऐश्वर्य। मेरे लिये वह सब कंकड़ों के सदृश है, वासवदत्ता, कंकड़ों के सदृश !'

"तो क्या सचमुच मेरे साथ न चलोगे उपगुप्त !'

'सचमुच अभी न चलूँगा वासवदत्ता ! मेरे आने का जब समय होगा, तब मैं स्वयं ही तुम्हारे पास चला आऊँगा !'

वासवदत्ता का कुचला हुआ विषयी मन ! वह सर्प की भाँति फुफकार उठा। किन्तु चन्द्रमा की भाँति शीतल उपगुप्त के मन पर उसका प्रभाव ही क्या पड़ सकता था ?

पांच वर्ष पश्चात।

एक दिन सवेरे जब सूरज की किरणें निकलीं, तब समस्त मथुरा नगरी इस समाचार से गूंज उठी,—'सुप्रसिद्ध वेश्या वासवदत्ता का क्षत-विक्षत शरीर श्मशान में।' सुना सबने, पर कोई उसे देखने तक के लिये भी न गया। सचमुच उसके हाथ

पैर काट डाले गये थे। वह श्मशान में पड़ी तड़प रही थी। चील्ह कौये ऊपर से झपट रहे थे और वह अर्द्ध मृत अवस्था में अपनी कराहों से श्मशान को प्रतिध्वनित कर रही थी।

सहसा उसके आकुल मन ने अनुभव किया, वह किसी की गोद में है। कोई धीरे धीरे उसके बालों को सुहला रहा था, मस्तक पर प्रेम से हाथ फेर रहा था। वासवदत्ता ने आँखे खोल कर देखा, उपगुप्त।

उपगुप्त बोल उठा, 'मैं अपने वचन के अनुसार आगया तुम्हारे पास वासवदत्ता! आकुल न हो, मै सेवा करने के लिये तैयार हूं!

वासवदत्ता ने दो बूंद आँसू गिरा कर आँखें बन्द कर लीं। क्या कोई कह सकता है, कि वासवदत्ता के उन आँसुओं में क्या था?

इतिहास का कथन है, कि वह उस समय पश्चात्ताप और पवित्रता की मूर्ति बनी हुई थी।



# नीम की याद में

एक सहस्त्र वर्ष पूर्व की बात है। आस्ट्रिया की राजधानी बीयना एक छोटा सा गाँव था। छोटे छोटे घर थे, छोटी-छोटी गलियाँ थीं। चारों ओर दीवाल की रेखा खिची हुई थी। उसी रेखा के बाहर वन की गोद मे एक छोटा सा मन्दिर था। मन्दिर के पास एक झोपड़े मे एक साधु भी रहता था। मन्दिर के पास के पेड़ों की डालियाँ बड़ी श्रद्धा से मन्दिर की छत को चूमती थी। गाँव वाले भी सन्ध्या सबेरे मन्दिर में एकत्र होते, और प्रभु के सामने घुटने टेक कर उसका गुणानुवाद करते। साधु को इससे सुख मिलता, बहुत बड़ा सुख।

पर संसार तो परिवर्तनशील है न! धीरे धीरे गाँव की आबादी बढ़ने लगी। गाँव बड़ा होने लगा। गाँव के साथ ही गाँव के मकान और गलियाँ भी बड़ी होने लगीं। पहले जब गाँव छोटा था, तब लोग बड़े मजे में उस छोटे से मन्दिर में एकत्र होकर प्रभु की प्रार्थना कर लिया करते थे। किन्तु अब जब गाँव बड़ा हो गया था, लोगों को मन्दिर में प्रार्थना करने में कष्ट मालूम होने लगा। लोगों ने सोचा, अब मन्दिर को बड़ा करना चाहिये।

एक दिन प्रभात का समय था। सूरज की किरणें चमचमा रही थीं। वृक्षों की पत्तियाँ बड़ी मस्ती से मन्दिर की छत पर

लोट-लोट कर उसे प्यार कर रही थीं। मिस्त्री अपने विभिन्न औज़ारों के साथ मजदूरों को लेकर मन्दिर के पास जा पहुँचा। हरी हरी घासों के उपर औज़ारों को रख कर ज़मीन की नाप-जोख करने लगा।

घास पर चमकते हुये औज़ारों को देखकर वृक्ष संशंकित हो उठे। मन्दिर के समीप ही एक वयोवृद्ध ओक का वृक्ष था। उतना ही वयोवृद्ध, जितना उस छोटे से गाँव का इतिहास था। उसके पास ही एक छोटा सा नीम का पेड़ भी था। ओक सब कुछ समझ गया। नीम अभी अज्ञान था। उसने अपनी डालियो को हिलाकर ओक से पूछा, 'क्यो भाई, ये लोग यहां क्या करेंगे ?

ओक ने एक ठंडी सांस ली। उसके मुखसे निकल पड़ा, ईश्वर ही रक्षा करे।'

नीम का पत्ता-पत्ता तक कांप उठा। उसने ओक को कभी इतना निराश होते हुये न देखा था। वह व्याकुल हो उठा। और आकुल स्वर में कहने लगा, 'हुआ क्या ? कुछ मुझे भी तो बताओ।'

ओक कहने लगा—"होगा क्या ? यही, कि अब हम तुम यहां न रहने पायेंगे। देख रहे हो न, घास के ऊपर चमकते हुयें औज़ार ! इन्हीं हथियारों से अब हम, तुम, और मन्दिर के पास के सभी पेड़ काट डाले जायँगे। पहले यहाँ और भी बहुत से पेड़

थे, किन्तु सभी काट डाले गये। अब की वार अपनी वारी है।'

ओक का वृक्ष कहते कहते कुछ अधिक उदास बन गया, उसकी वाणी रुक गई। वह कुछ देर तक चुप रहा, और फिर बोल उठा, 'ये मनुष्य ऐसे ही स्वार्थी होते हैं भाई! सदियों से मेरी छाया मे आराम करते चले आ रहे है, किन्तु जब इन्हें मेरे स्थान की आवश्यकता हुई, तब मेरी जड़ पर कुल्हाड़ी मारते हुये रंच मात्र भी इनका हृदय तनिक भी कम्पित न होगा। ये स्वार्थी जानवरों से भी गये-वीते हैं, हृदय-हीन हैं।'

नीम झट बोल उठा, 'नहीं, नहीं भाई ऐसा न कहो। मुझे तो विश्वास नहीं होता कि ये स्वार्थी होगे। ये ही तो वे लोग हैं जो प्रतिदिन ईश्वर के सामने घुटने टेक कर उसकी प्रार्थना करते हैं, उससे अपने अपराधों और पापों की क्षमा मांगते हैं। ईश्वर की प्रर्थना करने वाला कभी स्वार्थी और हृदय-हीन नहीं हो सकता।'

ओक चुप हो गया।

कुछ दिनों के पश्चात मन्दिर के आस पास के पेड़ कटे जाने लगे। उनकी डालियाँ छाँटी जाने लगीं। चीत्कार से वन प्रतिध्वनित हो उठा। ओक ने नीम से कहा, मैंने जो कहा था वह सच निकला न!

नीम गंभीर बन कर सोचने लगा, क्या सचमुच मनुष्य स्वार्थी और हृदय-हीन होते हैं?

एक दिन प्रभात का समय था। मज़दूर पेड़ों की डालियां छाँटने में लगे थे। साधु बड़े दुख से चीत्कार करके गिरती हुई उन डालियों की ओर देख रहा था। उसने आह की एक साँस लेकर मिस्त्री से कहा, 'मिस्त्री जी, मन्दिर इसमे सन्देह नहीं, कि अधिक सुन्दर बनाया जा रहा है, किन्तु आप देख रहे है न, कि मेरे कुटुम्बियों की किस प्रकार हत्या की जा रही है !'

मिस्त्री साधु की इस बात पर हॅस उठा।

साधु फिर बोल उठा, 'अच्छा मेरी एक प्रार्थना सुनिये। सामने ओक का जो वह बड़ा पेड़ है, उसे न काटिये। वह इस गाँव के इतिहास से भी अधिक पुराना है।'

मिस्त्री ने ओक के वृक्ष की ओर देख कर कहा, 'यह कैसे हो सकता है ? उस वृक्ष का कटना तो बहुत ही आवश्यक है। देख नहीं रहे हैं, कि वह दीवाल के बीचो बीच मे है।'

साधु ओक की ओर एक प्यार भरी दृष्टि से देख कर चुप हो गया। उसका हृदय दुख से भरा हुआ था। वह एक एक वृक्ष को प्रेम और सहानुभूति की दृष्टि से देख रहा था। वह इतना अधिक दुखी और आकुल था, मानो सचमुच कुल्हाड़ियां उसी के बाल-बच्चों के सिर पर गिर रही हों, मानो सचमुच उसके कुटुम्बी आरे से दो टुकड़े किये जा रहे हों !

कुछ देर के पश्चात साधु की उंगली फिर एक पेड़ की ओर उठ गई। वह वही छोटा-सा नीम का पेड़ था। साधु ने बड़ी विवशता के साथ कहा, 'अच्छा मिस्त्री जी, उस नन्हें से

नीम को तो रहने दीजिये। वह मुझे अपने पुत्र से भी अधिक प्यारा है।'

मिस्त्री ने नीम की ओर दृष्टि उठा कर देखा. और कुछ देर तक सोच कर कहा, 'हाँ वह बच सकता है।'

साधु प्रसन्नता से नाच उठा। कहने लगा, नीम का यह छोटा सा पेड़ ही लोगों को इस वन की कहानी सुनायेगा।

देखते ही देखते सारा वन उजड़ गया। सभी पेड़ काट डाले गये। पेड़ों की डालियां छाँट-छांट कर अलग कर दी गईं। अशोक के वृक्ष की जड़ पर भी कुल्हाड़ियाँ चलने लगीं। उसने नीम से कहा, 'मैं जा रहा हूं। तू रहेगा। मुझे अधिक आनन्द है कि तू बच गया। कभी कभी अपनी डालियों से मेरे स्थान पर दो फूल गिरा कर मुझे याद कर लिया करना।'

नीम शोकित हो उठा। उसकी डाली डाली और पत्ते पत्ते तक काँप उठे। मानों वह अशोक को काटने वालों के विरुद्ध नाश करना चाहता हो!

चाँदनी रात थी। अर्द्ध कटा अशोक मुरझाया सा अपने स्थान पर खड़ा था। नीम उसकी ओर दुख भरी आँखों से देख रहा था। उजाड़ वन की धरती जैसे दुखी होकर अशोक को विदाई सी दे रही हो। पक्षियों ने सवेरा होने के पहिले ही अपने बच्चों को जगाया, और कहा, चलो यहां से अब किसी दूसरी जगह चलें।

नीम तुरन्त बोल उठा, 'क्यों, अभी तो मैं मौजूद हूँ। अपने रहते हुये मैं तुम सबको कहीं न जाने दूंगा !'

मुरझाया हुआ ओक हँस पड़ा। उसने कहा, 'शावाश, मेरे बेटे, शावाश ! तुमने मेरा दुख हलका कर दिया। अब मैं बड़े सुख से कटकर भूमि पर गिरूंगा।'

ओक हँस रहा था। पर नीम का पेड़, पत्ती, वन, वन की धरती, और स्वयं चाँदनी भी जैसे शोक से धूमिल पड़ती जा रही थी।

कई वर्ष बीत गये। भव्य मन्दिर बन कर तैयार हो चुका था। नीम का पेड़ अपने स्थान पर खड़ा था। उसके नीचे बहुत से छोटे-छोटे फूलों के पौदे लहलहा रहे थे। एक ओर एक छोटी सी बेंच भी पड़ी हुई थी। लोग आते और उस बेंच पर बैठकर नीम की शीतल छाया का आनन्द लूटते। मन्दिर के पास प्रायः मनुष्यों की भीड़ लगी रहती थी। साधु बड़ा ज्ञानी था, आत्म-दर्शी था। बच्चे, बूढ़े, जवान सभी साधु के पास आते और उसे अधिक श्रद्धा की दृष्टि से 'देखते थे। साधु यों तो हर एक को अधिक प्रेम करता, किन्तु उसकी सबसे अधिक ममता नीम के उस पेड़ पर थी। नीम का पेड़ भी साधु को अधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। दोनों का वह पारस्परिक प्रेम ! उसकी तुलना संसार मे अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती।

पर इस नाशवान जगत में किसका प्रेम
सकता है ? समय ने साधु को अधिक वृद्ध

नीम का पेड़ उस समय तरुणाई पर था। उसके फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध वृद्ध साधु के प्राणों में भी नवजीवन का संचार करती थी। साधु जब नीम के पेड़ को फूला हुआ पाता, तब सब कुछ भूल जाता, यहाँ तक, कि अपने को भी।

जाड़े के दिन थे। वृद्ध ने खाट पकड़ ली थी। नीम की टहनियाँ उसकी खिड़की के पास आकर लग गई थी। नीम अपनी टहनियों के द्वारा बीमार साधु की सेवा करता, उसे हवा पहुँचाता, और अपनी भीनी-भीनी सुगन्ध से उसे जीवन-दान देता। साधु खिड़की से नीम के पेड़ को देखा करता। उसे ऐसा लगता; मानों उसकी बीमारी को देख कर नीम का पेड़ अधिक खिन्न हो उठा है।

साधु का अन्तिम काल निकट था। खिड़की बन्द थी। नीम की टहनियाँ रह-रह कर खिड़की पर थपकियाँ लगा रही थीं। साधु ने उस ओर देखा। उसके मुख से निकल पड़ा, 'ईश्वर की इच्छा पूर्ण हो। प्यारे नीम, काश, तुझे एक बार फिर पुष्पित देख लेता!'

एक ज़ोर की हवा। खिड़की खुल गई। साधु ने देखा, नीम की टहनियां फूलों से लदी हुई दुख के वेग में डोल रही थीं। कुछ फूल वायु के झोंके के साथ दौड़ कर साधु की चारपाई पर उसके चरणों के पास बिखर गये। साधु ने उन्हें प्रेम से उठाकर आंखों से लगाया, और फिर आंखें बन्द कर लीं।

समय ने नीम को भी वृद्ध बना दिया। कुछ दिनों में वह भी साधु की भांति इस संसार से चल बसा। पर वीयना-निवासी साधु और नीम के पारस्परिक प्रेम को अब तक भी न भूल सके हैं। आज भी नीम के स्थान पर पत्थर का एक स्मारक खड़ा है, और वह लोगों की आँखों के सामने साधु तथा नीम के पारस्परिक प्रेम का चित्र खींच रहा है।

ओक की आत्मा को भी यदि पत्थर के इस स्मारक से संतृप्ति मिलती हो तो आश्चर्य क्या? क्योंकि आज भी लोग उसको देख कर उस वन की याद करते और ओक की कहानी कहते हैं।



# न्याय के लिये

काशी में वरुणा नदी का सुन्दर तट। तट से लगी हुई सैकड़ों झोपड़ियां खड़ी थीं। झोपड़ियों में मटमैले रंग के नंगे बच्चे खेल रहे थे। उन बच्चों को देखते ही यह ज्ञात हो जाता कि ये उनके बच्चे हैं, जिन्हें लोग ग़रीब कहते हैं और जो ग़रीबी के कारण बस्ती के बीच में एक इंच भी जगह नहीं प्राप्त कर सकते। सचमुच वे झोपड़ियां ग़रीबों ही की थीं। वे ग़रीब दिन भर शहर में काम करते, और सायंकाल होते ही अपनी झोपड़ियों की गोद मे चले जाते। वे उन्हीं को राज महल समझते, राज महल से भी अधिक सुन्दर। उनकी गोद में उनका जीवन बड़े सुख से बीत रहा था।

माघ के दिन थे, और सन्ध्या का समय। शीत और बढ़ते हुये अन्धकार ने तट को अधिक सुनसान बना दिया था। ग़रीब अपनी अपनी झोपड़ी के द्वार पर आग जलाकर बैठे थे, किसी किसी झोपड़ी में चिराग़ भी जल रहा था। सहसा मुखिया के द्वार पर तीन चार मनुष्य दिखाई पड़े। मुखिया उन मनुष्यों को देखते ही उठ कर खड़ा हो गया और उनका स्वागत करता हुआ बोल उठा, 'कहिये, सरकार क्या हुक्म है?

वे मनुष्य काशी के राजा के सिपाही थे। उनमें एक बोल उठा, 'कल प्रातःकाल महाराणी करुणा अपनी सौ सहचरियों के साथ स्नान करने के लिये आयेंगी। महाराणी का आदेश है, कि तट पर कोई मनुष्य न रहे। अतः तुम सब को सवेरा होने के पहले ही अपनी अपनी झोपड़ी खाली कर देनी होगी !'

सिपाही महाराणी का आदेश सुनाकर चले गये। मुखिया दुख और विवशता से कम्पित हो उठा। थोड़ी ही देर में झोपड़ी झोपड़ी में, हृदय हृदय मे, एक दुःख, भयानक दु ख ! पर उपाय क्या था ? ग़रीबों के लिये महाराणी का आदेश ! ग़रीब उसे कैसे न मानते ? सवेरा होने के पूर्व ही ग़रीबो ने झोपड़ियाँ खाली कर दी।

माघ का शीत। शरीर जाड़े से काँप रहा था। उधर महाराणी करुणा अपनी सहचरियों के साथ घाट पर आने की तैयारी कर रही थीं, और इधर ग़रीब स्त्रियां अपनी छाती से बच्चों को चिपकाये हुये घाट से दूर बढ़ी जा रही थीं। उनके मुखो पर उदासी थी, विषाद था। सारा घाट जैसे रो रहा हो। पर ज्योही ये ग़रीब मर्द और स्त्रियां झोपड़ियों को खाली करके आगे बढ़े, सारा घाट किलकारियों. हँसी, और चुहल-बाज़ियों से प्रति-ध्वनित हो उठा। पर घाट का हृदय उस समय भी रो रहा था। उस रोते हुये घाट पर वे किलकारियां इस प्रकार मालुम हो रही थी, मानो उजड़े हुये [illegible] कोयल [illegible] रही हो।

प्रभात का समय था। सूर्य की किरणें पानी में चमक रही थीं। महारानी करुणा कुछ देर तक तट पर क्रीड़ा-खेल करने के पश्चात् अपनी सहचरियों के साथ पानी में कूद पड़ी। चारों ओर सन्नाटा। कहीं कोई पक्षी भी दिखाई न दे रहा था। खूब स्नान हुआ, पानी को उछाल उछाल कर, डुबकियां लगा लगा कर। अन्तःपुर में रहने वाली इन रमणियों को ऐसा संयोग बार बार तो मिलता नहीं! वर्षों के बाद उन्हें वह दिन मिला था। रग-रग में उत्साह था, रग-रग में प्रसन्नता थी। उनके ललककर चलते हुये हाथों के थपेड़ों से पानी किनारे पर ऐसा टक्कर मार रहा था, मानों तेज़ हवा ने उन्हें उकसा दिया हो।

पर माघ का शीत। थोड़ी ही देर में महाराणी करुणा का शरीर थर-थर कांपने लगा। वे दौड़कर किनारे पर चली आईं। किन्तु फिर भी शीत न गया। जाड़े से अंग-अंग हिले जा रहे थे। महाराणी ने सहचरियों की ओर देख कर कहा, 'आज बड़ी सर्दी लग रही है। आग जलाओ!'

महाराणी की इच्छा। सहचरियां ईंधन के लिये दौड़ पड़ीं। पर उस घाट पर ईंधन कहां? यहां शीत से रानी के प्राण निकले जा रहे थे। रानी ने सहचरियों की ओर देख कर क्रोध के स्वर में कहा, 'बेवकूफो! सामने झोपड़ियां खड़ी हैं? उन्हें क्यों नहीं देती इन्हें!'

कुछ सहचरियां झोपड़ियों की ओर बढ़ीं। पर एक ने हाथ जोड़ कर महाराणी से कहा, 'महाराणी ऐसा आदेश न

दीजिये। ये साधु-सन्तों और ग़रीबों की झोपड़ियां हैं। इनमें ग़रीबों के बच्चे बसते हैं। यदि ये जल जायेंगी, तो फिर वे कहां रहेंगे।'

महाराणी की आंखों से क्रोध की चिनगारियां बरस पड़ी। उन्होंने एक दासी को आदेश देते हुये कहा, 'निकाल दो कान पकड़ कर करुणा की इस मूर्ति को अपने दल से!'

इस आदेश के साथ ही झोपड़ियों में आग लगा दी गई। झोपड़ियां जलने लगीं। रानी अपनी सहचरियों के साथ किलकारियां मार मार कर हाथ पैर सेंकने लगी। पक्षी इधर उधर भागने लगे, वरुणा नदी का पानी फुफकार कर किनारे की ओर दौड़ पड़ा! थोड़ी ही देर मे देखते देखते सारी झोपड़ियां जल कर खाक़ हो गईं।

उसी दिन दो बज रहे थे। काशी नरेश दरबार में सिंहासन पर थे। सहसा उन्होंने राज द्वार पर तुमुल जनरव को सुन कर सिपाही को आदेश दिया, 'देखो क्या है?'

सिपाही ने लौटकर निवेदन किया, 'हज़ारों ग़रीब स्त्री-पुरुष द्वार पर खड़े हैं महाराज! न्याय के लिये पुकार मचा रहे हैं!'

'न्याय के लिये पुकार मचा रहे हैं!—राजा ने आश्चर्य-चकित होकर कहा!

'हां महाराज न्याय के लिये—सिपाही ने उत्तर दिया।

अच्छा उस दल के पांच प्रतिनिधि मनुष्यों को दरबार में बुलाओ!—राजा ने आदेश दिया।

पांच मनुष्य शीघ्र दरबार में आकर हाजिर हुये, सबके हाथ जुटे हुये थे। सबने राजा को मस्तक झुकाकर कहा, 'महाराज न्याय कीजिये। हमारे झोपड़े जलाकर खाक कर दिये गये। अब हम कहां रहें महाराज, हमारे बाल-बच्चे किसकी गोद में बसें ?'

किसने तुम्हारे झोपड़े जला डाले !—राजा ने सहानुभूति के स्वर में पूछा।

'महारानी करुणा ने महाराज !'—एक गरीब ने उत्तर दिया।

'महारानी करुणा ने !'—राजा ने आश्चर्य—चकित होकर कहा।

'हां महाराज, महारानी करुणा ने ही—एक गरीब ने उत्तर दिया—वे आज सवेरे घाट पर नहाने गई थीं।'

राजा क्रोध से कांप उठे। आंखों से आग निकलने लगी। सिंहासन से उठकर अन्तःपुर में जा पहुँचे। उन्होंने रानी से पूछा, तुमने प्रजा की झोपड़ियां जलाकर खाक कर दीं। क्या यह सच है ?

रानी ने भौंहे तान कर कहा, 'हां सच है महाराज! पर काशी की महारानी के सुख के सामने उन झोपड़ियों का क्या मूल्य ? झोपड़ियों का मूल्य राज्य-कोष से चुका न दीजिये।'

राजा की आंखों से चिनगारियां निकलने लगीं। उन्होंने होठों को दांतों से काटकर कहा, 'राजभवन में रहने वाली रानी